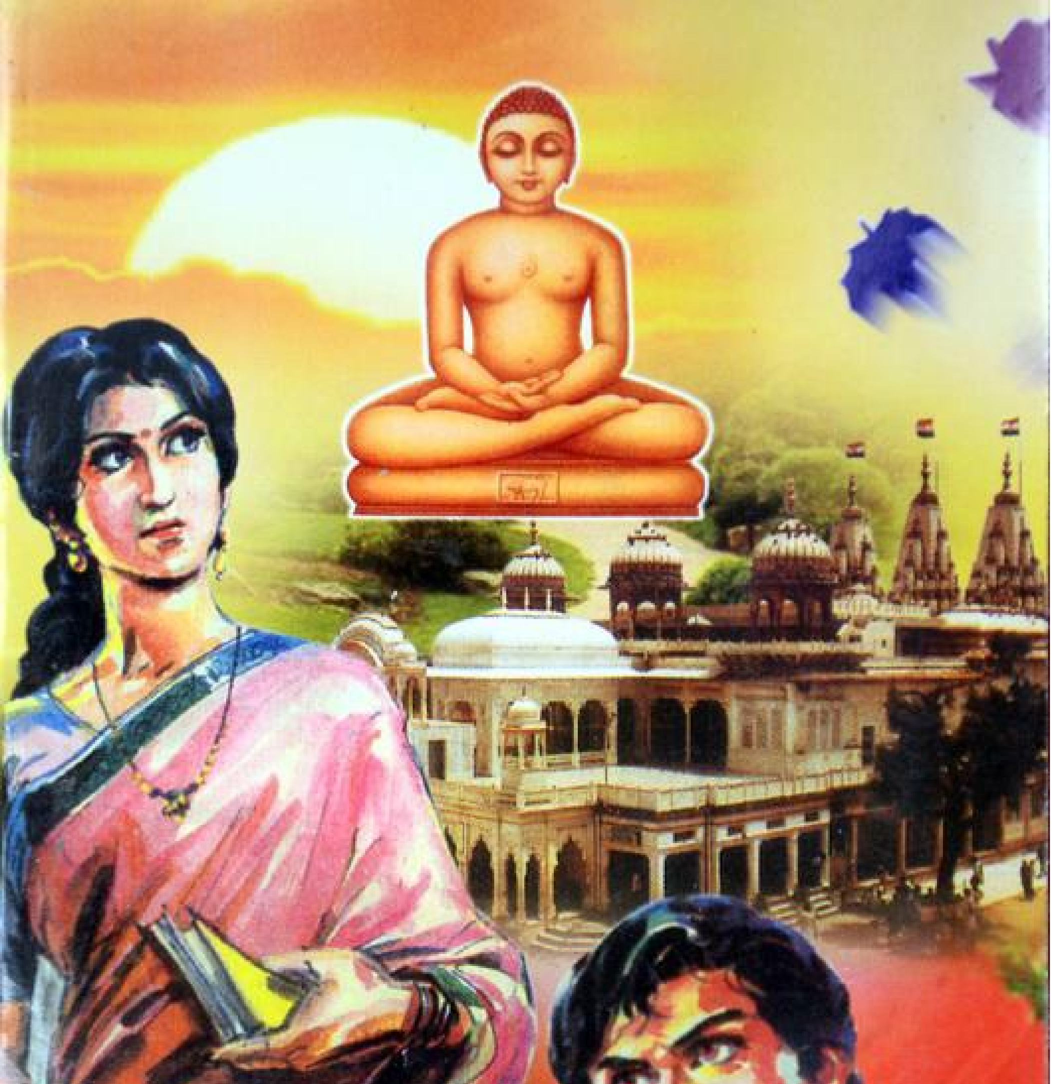

सत्य की खोज

-डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध सशक्त
किन्तु सरल एवं सुबोध कथानक

सत्य की खोज

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015
फोन : 0141-2707458, 2705581
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

सत्य की खोज : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

हिन्दी :		
प्रथम अठारह संस्करण (अगस्त, 77 से अद्यतन)	:	92 हजार 600
उन्नीसवाँ संस्करण (15 अगस्त, 2016)	:	1 हजार
योग	:	**93 हजार 600**
गुजराती :		
प्रथम सात संस्करण	:	23 हजार 900
मराठी :		
प्रथम संस्करण	:	3 हजार
कन्नड़ :		
प्रथम दो संस्करण	:	5 हजार 500
तमिल :		
प्रथम संस्करण	:	1 हजार 200
अंग्रेजी :		
प्रथम संस्करण	:	1 हजार
आत्मधर्म सम्पादकीय के रूप में	:	10 हजार
महायोग	:	**1 लाख 38 हजार 200**

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक :
सन् एन सन् प्रेस
तिलकनगर
जयपुर (राज.)

प्रकाशकीय

(उन्नीसवाँ संस्करण)

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की प्रस्तुत कृति **'सत्य की खोज'** की आशातीत लोकप्रियता को देखकर हमारी इस धारणा को अत्यधिक बल मिला है कि युवा पीढ़ी में आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना जाग्रत करने के लिए इसप्रकार के साहित्य का निर्माण एवं उसका व्यापक प्रचार-प्रसार सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है।

एक तो आजकल का युवा वर्ग धार्मिक ग्रन्थों के नाम से ही दूर भागता है; कदाचित् कहीं से प्रेरणा पाकर उनके अध्ययन का विचार भी करता है, तो उनकी विशालता को देखकर घबड़ा जाता है? यदि कुछ लोग हिम्मत करके उन्हें पढ़ने का उपक्रम आरंभ कर देते हैं तो गूढ़ और गम्भीर विषय आने पर विवश होकर बीच में ही पलायन कर जाते हैं। इसप्रकार दार्शनिक ग्रन्थों को आद्योपान्त अध्ययन करनेवाले बहुत कम दिखाई देते हैं।

जनसामान्य तक अपनी बात पहुँचाने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम साहित्य क्षेत्र की उपन्यास विधा है, क्योंकि युवावर्ग को आकर्षित करने की जितनी क्षमता आज औपन्यासिक-कथानकों में है, उतनी चलचित्रों को छोड़कर और किसी में भी नहीं है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में वर्षों से प्रचलित एवं अत्यन्त लोकप्रिय यह विधा जैन साहित्य में उपेक्षित ही बनी रही है। यह बात नहीं है कि इस लोकप्रिय विधा की ओर जैन साहित्यकारों का ध्यान ही न गया हो। आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व पण्डितप्रवर गोपालदासजी बरैया ने **'सुशीला'** नामक उपन्यास लिखा था। उसके बाद इसप्रकार का कोई प्रयोग नहीं हुआ, जिसमें काल्पनिक कथानकों के माध्यम से जिन-अध्यात्म और सैद्धान्तिक ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न किया हो। पिछले तीन

दशकों में पौराणिक कथानकों के आधार पर कतिपय उपन्यास अवश्य लिखे गए हैं, जिनमें श्री वीरेन्द्रकुमार जैन के **'मुक्तिदूत'** एवं **'अनुत्तरयोगी महावीर'** तथा श्री निर्मलकुमार जैन का **'मेघवाहन'** उल्लेखनीय हैं।

साधारण पाठक एवं युवावर्ग सहजता से वस्तुस्वरूप समझ सकें तथा महिलायें भी अपनी भ्रमपूर्ण मान्यताओं को सहजता से दूर कर सकें इस दृष्टि से लिखा गया यह कथानक अपने उद्देश्य की पूर्ति में अत्यन्त सफल रहा है। इसने साधारण पाठकों, युवकों एवं महिलावर्ग को अत्यधिक आकृष्ट किया है।

इस बात का प्रबल प्रमाण यह है कि अब तक की समयावधि में इस उपन्यास के 6 प्रमुख भाषाओं में 18 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, तथा आज भी निरन्तर माँग जारी होने से यह 19वाँ संस्करण प्रस्तुत है।

जैनसमाज की लोकप्रिय मासिक पत्रिका **'सन्मति सन्देश'** में जब यह कथानक मासिक किस्तों के रूप में प्रकाशित होना आरंभ हुआ तो समाज में एकदम तहलका-सा मच गया। इसके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग जोर पकड़ने लगी। पर यह अभी लिखा ही नहीं गया था, यह तो अभी लिखा जा रहा था। अतः पाठकों के आग्रह पर सर्वप्रथम इसके 20 अध्यायों को **सत्य की खोज भाग-1** के नाम से अगस्त 1977 में रक्षाबन्धन के अवसर पर हिन्दी भाषा में 10 हजार प्रतियों का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया गया, जो छह माह के भीतर ही समाप्त हो गया।

अभी तक हिन्दी भाषा में दोनों भागों को मिलाकर अठारह संस्करणों के माध्यम से 92 हजार 600 की संख्या में यह कृति जन-जन तक पहुँच चुकी है तथा अब यह उन्नीसवाँ संस्करण 1 हजार की संख्या में प्रस्तुत है। गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी तथा तमिल – इन पाँच भाषाओं में भी अबतक इसकी 34 हजार 600 प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इसप्रकार हिन्दी सहित छहों भाषाओं में अब तक 1 लाख 38 हजार 200 कृतियों का प्रकाशित होना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सन्मति-सन्देश हिन्दी मासिक के अतिरिक्त कन्नड़, मराठी और तमिल आत्मधर्मों में यह मासिक किस्तों के रूप में प्रकाशित होता रहा है। इसकी लोकप्रियता को देखते हुए बाहुबली प्रोडक्सन, जयपुर द्वारा इसकी वीडीओ फिल्म भी तैयार की गई थी, जिसकी काफी सराहना हुई थी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह कृति अबतक विभिन्न भाषाओं में लाखों पाठकों तक पहुँच चुकी है। डॉ. भारिल्ल की लौह लेखनी से प्रसूत अन्य लगभग 88 कृतियाँ हैं, जिनकी अनेक भाषाओं में 45 लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जो एक रिकार्ड है।

यद्यपि यह कृति कथानक के रूप में निबद्ध है, पर इसमें मात्र कथानक ही नहीं है अपितु पारिभाषिक शब्दावली से बचते हुए जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण संदर्भों पर तर्कसंगत व मौलिक चिन्तन किया गया है। दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन में भी जटिलता नहीं आने पाई है, उन्हें सरल एवं सुबोध भाषा में लिपिबद्ध किया गया है। साथ में सामाजिक और धार्मिक विकृतियों के मर्म पर भी व्यंग्यात्मक शैली में मीठी मार की गई है, जो चुभती तो नहीं, पर उनकी निरर्थकता पर ध्यान अवश्य आकर्षित करती है।

कथानक के अन्तर्गत आध्यात्मिक विषयों का समावेश इस उपन्यास की मौलिक विशेषता है। इसमें भेद-विज्ञान, वीतरागता, आत्मानुभूति का स्वरूप व प्रक्रिया, आत्मानुभवी महापुरुषों का अंतरंग व बहिरंग आदि विषयों को सूक्ष्मता से स्पष्ट किया गया है। उनके प्रायोगिक रूप को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है।

इसप्रकार इस कृति में सामाजिक और धार्मिक विकृतियों की इस पृष्ठभूमि में सामाजिक संगठन को कायम रखते हुए तत्त्वप्रचार के मार्ग में उत्पन्न होनेवाली समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। इसमें त्रैकालिक, तात्कालिक एवं सामाजिक सत्य का उद्घाटन करते हुए शांतिपूर्ण क्रान्ति का मार्गदर्शन किया गया है। इसके नायक का निम्नांकित संकल्प इस कृति की मूल भावना को व्यक्त करता है -

धर्म के नाम पर न तो मैं समाज को विघटित होते देख सकता हूँ और न मुझसे धर्म की कीमत पर संगठन ही होगा। मैं धर्म को कायम रखकर समाज को संगठित करूँगा और समाज को संगठित रखकर धर्म को उसके सामने प्रस्तुत करूँगा – यह मेरा संकल्प है।

अध्यायों के बीच–बीच में चित्रांकन द्वारा इसे और भी अधिक रोचक बनाने का प्रयास किया गया है। यत्र–तत्र लेखक की अन्य कृतियों के महत्त्वपूर्ण उद्धरण भी दिए गए हैं ताकि लेखक के अन्य ग्रन्थों को पढ़ने की प्रेरणा भी पाठकों को सहज ही प्राप्त हो सके।

पुस्तक का कलेवर प्रभावी हो – इसलिए इस संस्करण को कम्प्यूटर पद्धति से कम्पोज कराकर ऑफसेट पद्धति से मुद्रित किया गया है। राजस्थान के प्रसिद्ध चित्रकार श्री अनन्त कुशवाहा की तूलिका द्वारा चित्रित चित्रों से भी कलेवर मनमोहक बन पड़ा है। श्री कुशवाहाजी के इस सहयोग हेतु संस्था उनका हृदय से आभार मानती है।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु इसे कम से कम मूल्य में उपलब्ध कराने के लिए जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग दिया है हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं। अन्त में लेखक के प्रति इस महान कृति की रचना के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए इसके सुन्दर प्रकाशन के लिए मैं प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को भी धन्यवाद देता हूँ।

आप सभी इस कृति के माध्यम से सत्य की खोज कर भव का अभाव करें, इसी भावना के साथ –

– **ब्र. यशपाल जैन**

प्रकाशन मंत्री

अपनी बात

कथा-साहित्य साहित्य-क्षेत्र की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। सत्य और तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने का इससे अधिक सशक्त साहित्यिक माध्यम अभी तक कोई दूसरा विकसित नहीं हो सका है।

वर्तमान सन्दर्भ में सामाजिक तथ्यों और आध्यात्मिक सत्य को उजागर करने के लिए ही यह अभिनव प्रयोग किया गया है। सरल, सुबोध और रोचक कथानक के माध्यम से सत्य और तथ्यों को उजागर करने का विकल्प मुझे बहुत दिनों से चलता रहा है। अवकाश के क्षणों में इसकी चर्चा घर पर भी किया करता था।

इस बीच अनेक पुस्तकें लिखीं और वे समाज़ में समादृत भी हुईं, पर यह बात टलती ही रही। यदि चि. शुद्धात्मप्रभा व परमात्मप्रकाश बलात् न लिखा लेते तो अभी भी यह बात टलती ही जाती। यह कथानक लिखा नहीं गया है, वरन हाथ में पैन देकर एवं सामने कागज रखकर बलात् लिखाया गया है।

इसके लेखन व प्रकाशन में देरी होते देख इसे 'सन्मति सन्देश' में मासिक किस्त के रूप में प्रकाशन को दे दिया गया और फिर तो चारों ओर से बहुत प्रेरणा प्राप्त होने लगी। फलस्वरूप जो भी बन पड़ा आपके सन्मुख प्रस्तुत है।

यद्यपि इसमें सत्य का उद्घाटन है; तथापि कथानक, स्थान व पात्र एकदम काल्पनिक हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान का नाम होने से विदिशा को अपना लिया गया है।

प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि इसमें सत्य और तथ्यों की ही खोज करें, व्यक्तियों और स्थानों की नहीं।

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

सत्य की खोज पुस्तक की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती चन्द्रावती सोनी जम्बुकुमारजी सोनी, इन्दौर	1100.00
2.	श्री अकलंक जैन, जयपुर	1100.00
3.	श्री रजनीश सौगानी, जयपुर	1100.00
4.	स्व. श्री राजकुमारजी जैन की स्मृति में, जयपुर	1000.00
5.	श्रीमती राजबाला जैन, मन्दसौर	1000.00
6.	श्री ध्रुवेश शाह, अहमदाबाद	1000.00
7.	श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	501.00
8.	श्री अमित जैन, दिल्ली	500.00
9.	श्रीमती प्रभावती भाईलाल शाह, मेहसाणा	500.00
10.	स्व. श्री रामकिशन जैन की पुण्य स्मृति में हस्ते ताराचन्द वीरसागर जैन, गुढ़ाचन्द्रजी	500.00
11.	श्री आनन्दकुमारजी जैन, खुरई	500.00
12.	श्री मनोजकुमार अजयकुमार वंगेला, सागर	500.00
	कुल राशि	9,301.00

१

कौन नहीं जानता है शस्य-श्यामला भूमि से आवेष्टित, विन्ध्याचल की घुमावदार पहाड़ियों के अंचल में वेत्रवती नदी के किनारे बसी विदिशा नगरी को; जिसकी प्राचीनता का उल्लेख कालीदास ने मेघदूत एवं वाणभट्ट ने कादम्बरी में किया है। जो श्रमण और वैष्णव – दोनों संस्कृतियों की चिरकाल तक केन्द्र-बिन्दु बनी रही है। जहाँ भगवान शीतलनाथ के तीन-तीन कल्याणक हुए हैं। जहाँ भगवान नेमिनाथ और महावीर ने समवशरण सहित विहार किया था। जहाँ महान् तार्किक दिग्गज आचार्य समन्तभद्र ने अपनी विजय दुन्दुभि बजाई थी और जहाँ सांची के स्तूप तथा उदयगिरि की गुफाएँ आज भी हजारों दर्शकों का मन मोह लेती हैं।

विविध विविधताओं से भरी इसी विदिशा नगरी में अर्हत्दास श्रेष्ठि निवास करते थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, शान्त, धर्मानुरागी महापुरुष थे। उनकी प्रियपत्नी का नाम जिनमती था। वे भी अपने नाम को सार्थक करती हुई जिनोपदिष्ट आचार-विचार से प्रवर्त्तन करने वाली धार्मिक महिलारत्न थीं।

यद्यपि उनको सर्वप्रकार की लौकिक अनुकूलता थी, किन्तु अर्द्ध-यौवन बीत जाने पर भी उनके कोई सन्तान न हुई। सन्तान के अभाव में यद्यपि उनका चित्त अस्थिर रहता था, तथापि वे पुत्र-कामना की तीव्र आकांक्षा से लोभी वैद्यों और ढोंगी साधुओं के चक्कर में नहीं आए, और न उन्हें अतिशय क्षेत्रों के नाम पर प्रचारित कपोलकल्पित घोषणाएँ ही आकर्षित कर सकीं। **तर्क की कसौटी पर सर्वथा असत्य उतरने वाली ऐसी मूर्खतापूर्ण अफवाहें सामान्यजनों को ही आकर्षित कर पाती हैं। थोड़ी-सी भी बुद्धि रखनेवाले विवेकीजन इनके चक्कर में नहीं पड़ते।**

पुत्र-प्राप्ति के तथाकथित उपाय मंत्र-तंत्र, पीर-पैगम्बर आदि आडम्बरों से यद्यपि वे सर्वथा दूर थे; तथापि सहज संयोग से उतरते यौवन में उन्हें एक

स्वस्थ, सुन्दर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। **जो कार्य जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस रूप में होना होता है; वह उसी क्षेत्र में, उसी काल में, उसी रूप में होता है; उसे कोई भी व्यक्ति बदलने में समर्थ नहीं,** फिर भी अज्ञानी जीव व्यर्थ की आकुलता करके दु:खी हुआ करते हैं और ढोंगी-पाखण्डी साधुओं के चक्कर में आकर अपना सब-कुछ खो बैठते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि **विवेक बिना मनुष्य पग-पग पर ठगाया ही जाता है।**

पुत्र-रत्न की प्राप्ति के उपलक्ष्य में उन्होंने एक विशाल उत्सव किया। याचकों को अनेक प्रकार का दान दिया तथा वीतरागता के पोषक शास्त्रों को घर-घर पहुँचाया।

जब उसके नामकरण का प्रसंग आया तो सेठ अर्हत्दास के विवेकी व तत्त्वप्रेमी धर्मबन्धुओं और परिजनों ने उसका नाम विवेककुमार रखना सुझाया।

कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि ऐसा क़ौन धीर-वीर पुरुष होगा, जिसे चढ़ते यौवन में सन्तान की लालसा ने आकुलित न किया हो? सामान्यजन सन्तान प्राप्ति की तीव्र लालसावश इतने मोहाच्छन्न हो जाते हैं कि उनका विवेक ही समाप्त हो जाता है और वे सर्वथा झूठी अफवाहों के शिकार हो जाते हैं। अपनी सम्पत्ति, मान-मर्यादा, धर्म-कर्म सब कुछ भूलकर चाहे जिसकी सेवा करने लग जाते हैं।

यद्यपि उनकी इस क्रिया से कुछ भी सिद्धि नहीं होती, तथापि वे करें क्या? उन्हें सही रास्ता तो सूझता नहीं और सन्तान का अभाव बहुत खटकता है। अतः बिना विचारे ही ढोंगियों के चक्कर में आ जाते हैं। किन्तु आपने विवेक नहीं खोया। अतः इस कुमार का नाम विवेककुमार रखना पूर्ण सार्थक है।

यह नाम सब ही को बहुत पसंद आया और उसका नाम विधिपूर्वक विवेककुमार रख दिया गया।

विवेककुमार प्रतिदिन दोज के चन्द्रमा के समान वृद्धिंगत होने लगा। अपनी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से माता-पिता को नित्य आनन्दित करने वाला वह बालक विवेक जब पाँच वर्ष का हुआ तो उसे धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न, शिक्षण-कार्य में अति निपुण, अध्यात्मवेत्ता गुरु के पास पढ़ने को भेजा गया।

उसने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और विनय से शीघ्र ही अपने गुरु को प्रसन्न कर

लिया और अल्पकाल में ही व्याकरण, साहित्य, गणित, न्याय, सिद्धान्तादि शास्त्रों का समुचित अभ्यास कर लिया। उसके बाद उसने अपने पिता के साथ व्यापार कार्य में निपुणता प्राप्त करने के लिए देश-विदेश में भ्रमण भी किया, जिससे उसे देश-काल का भी पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो गया।

लौकिक कार्यों में अति निपुण होने पर भी उसकी वृत्तियाँ धार्मिक ही थीं। वह ठीक अपने पिता के समान ही स्वभाव से सरल, संसार से उदास, शान्त प्रकृति का धीर-वीर युवक था।

किशोर अवस्था को पार कर यौवन की देहली पर कदम रखते ही उसकी शादी के लिए आस-पास के नगरों से अनेक धनपतियों की सुयोग्य कन्याओं के प्रस्ताव आने लगे। उसके माता-पिता भी उसकी शादी करने को उत्सुक तो थे ही, पर वे अपने इकलौते बेटे का विवाह बड़े ही ठाठ-बाट से करना चाहते थे। उनकी हार्दिक आकांक्षा थी कि उनके बेटे का विवाह इस तरह से हो कि नगर के लोग दाँतों तले उँगली दबा लें। पर विवेककुमार को यह सब पसंद न था। वह नहीं चाहता था कि उसकी शादी के नाम पर व्यर्थ का आडम्बर और बर्बादी की जाए। वह यह भी नहीं चाहता था कि कन्या के पिता पर व्यर्थ ही बलात् आर्थिक बोझ डाला जाए।

यद्यपि उसका मन भी यौवन के आरम्भ में उठने वाली सहज भावना-तरंगों से उद्वेलित होने लगा था, वह भी स्वप्निल कल्पना-लोक में विचरण करने लगा था, सुयोग्य जीवन-साथी की आवश्यकता अनुभव करने लगा था; तथापि जब भी माता-पिता की ओर से शादी का प्रस्ताव आता, वह सहज संकोचवश इन्कार कर देता। सो ठीक ही है। **यौवनागम में कल्पना की उत्ताल तरंगों से आज तक कौन बच पाया है? फिर भी बड़ों की मर्यादा विनयशील युवक कभी नहीं छोड़ते।**

उसके इन्कार करने पर जब उसके माता-पिता अपनी आकांक्षाओं की चर्चा करते हुए कहते कि हम तो तेरी शादी बड़े ही ठाट-बाट से करना चाहते हैं और तू इन्कार करता है। तुझे क्या पता यह कल्पना हमने कब से संजो रखी

है? हम कब से इस दिन की प्रतीक्षा में हैं? साथ ही उसकी भावनाओं को उद्वेलित करने के लिए वे जब अनेक सुयोग्य कन्याओं की कल्पनातीत प्रशंसा करते एवं दहेज में प्राप्त होने वाले सामान का गुणगान करने लगते तो उसका मन वितृष्णा से भर उठता।

यद्यपि माँ–बाप की मर्यादा का ध्यान रखकर वह कुछ भी न कहता, तथापि उसकी आकृति सब कुछ कह देती। उसके माता–पिता भी उसकी अरुचि को स्पष्ट अनुभव करते।

सरल–स्वभाव निश्छल व्यक्तियों की आकृति ही मनोगत को प्रकट कर देती है और बुद्धिमान लोग आकृति देखकर ही मन की बात समझ लेते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि अनुभवी व्यक्ति सामने वाले के मनोगत को जानने में निपुण होते हैं, तथापि मनोगत की सत्यता में शंका तो बनी ही रहती है।

अतः विवेककुमार के मनोगत स्पष्ट और गहराई से समझने के लिए उन्होंने उसके मित्र अभयकुमार को बुलाकर कहा —

"बेटा! तुम विवेक के अभिन्नहृदय (मित्र) हो। दुनिया में मित्र ही एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसके सामने व्यक्ति अपना हृदय खोलकर रख देता है। तुम्हारे माध्यम से हम जानना चाहते हैं कि उसकी मनोभावना क्या है? हो सकता है संकोचवश वह अपने हृदय की बात हमसे न कह पा रहा हो।

उसके यौवनोन्मुख सलज्ज व्यवहार से हम यह स्पष्ट देख रहे हैं कि उसके हृदय में शादी न करने का संकल्प तो है नहीं, लेकिन शादी की चर्चा से आरम्भ में उत्साहित होकर भी अन्त में वह उदास क्यों हो जाता है? क्या वह किसी कन्या विशेष से स्नेह करता है? यदि यह सत्य हो तो हमें प्रसन्नता होगी। वह कहे उसी कन्या से हम उसका सम्बन्ध करने का प्रयत्न करेंगे।"

अभयकुमार के द्वारा पिताजी का मनोभाव जानने पर विवेककुमार ने कहा — "मित्र अभय! न तो मुझे शादी करने से ही कोई इन्कार है और न कन्या विशेष से ही कोई लगाव है। कन्या के चुनाव में भी मैं माता–पिता के

अनुभव पर विश्वास करता हूँ। जहाँ तक मेरे देखने का प्रश्न है, मुझे कन्या को देखने से भी इन्कार नहीं है। पर बन्धु! तुम ही बताओ मेरी अनुभवहीन दृष्टि कुछ क्षणों में मात्र चमड़ी के अतिरिक्त और क्या देख सकेगी? चमड़ी के रंग में मेरा कोई आकर्षण नहीं है। मैं तो सुशील, शान्त, सरल एवं गृहकार्य में चतुर विवेकी पत्नी चाहता हूँ।

संयोग तो सब निश्चित होते हैं। प्रकृति ने हमें चुनने का अधिकार दिया ही कब है? हम तो मात्र अपने विकल्प की पूर्ति करते हैं । मैं एक बात कहता हूँ — क्या हमने अपने माँ-बाप का भी चुनाव किया था? वे तो जिसको जैसे सहजसंयोग से मिल जाते हैं, बिना मीनमेख किए स्वीकार कर लिए जाते हैं।

क्या हमने कभी भाई-बहनों का भी चुनाव किया है? क्या कभी किसी ने ऐसा भी कहा है कि यह तो काली है, मैं इसे अपनी बहन नहीं मान सकता? इसके तो दाँत निकले हैं, इसे मैं अपनी माँ कैसे मानूँ? माँ और बहिन सहजसंयोग से जैसी मिल गईं, स्वीकार कर लिया; किन्तु जहाँ पत्नी का प्रश्न आया तो ···''

अभय बीच ही में बोल उठा — ''समझते तो हो नहीं। पिता और माँ, भाई और बहिन के चुनाव करने का हमें अवसर ही कब मिलता है? वह तो

माँ-बाप के हाथ की बात है। उसमें हम कर भी क्या सकते हैं? जहाँ तक पत्नी का सम्बन्ध है, भाई! जीवन भर का सौदा है। यदि हम बाजार से दो पैसे की हाँडी भी खरीदते हैं तो ठोक-बजाकर लेते हैं।"

विवेककुमार उत्तेजित स्वर में बोला — "मैं शादी को सौदा नहीं मानता। सौदा तो व्यापार में होता है। तो क्या शादी भी व्यापार है? तुम भी क्या हो? जीवन साथी की तुलना दो पैसे की हाँडी से करते हो? फिर हाँडी भी तो उसका रंग-रूप देखकर नहीं ली जाती, उसके गुण और उसकी अखंडता देखी जाती है। कन्या का भी चरित्र और गुण देखे जाने चाहिए, न कि रंग-रूप और दहेज। हाँडी भी उपस्थित हों तो बुजुर्गों से ही परखवाते हैं, न कि स्वयं। अत: मेरे विचार से पत्नी के चुनाव में भी उनके अनुभव से लाभ उठाना चाहिए।

यह भी तो सोचो कि यदि माँ-बाप और भाई-बहन के चुनाव का अधिकार माता-पिता का था, तो क्या तुम सन्तान चुन-चुन कर पैदा करोगे या जैसी भी उत्पन्न हो जावेगी सहज स्वीकार कर लोगे? यदि कोई काली-कलूटी सन्तान उत्पन्न हो गई तो क्या उसे अस्वीकार कर दोगे?

भाई! दूसरे की कन्या को देखकर उसकी नाप-तौल करने के पहिले यह भी तो सोचो कि जब तुम्हारी कन्या की भी कोई इसीप्रकार नाप-तौल करेगा, तब तुम पर क्या गुजरेगी? जैसे तुम आज भाव-ताव करने की सोचते हो, कोई कल तुमसे भी भाव-ताव करेगा तब · · · ?"

विवेक की विवेकपूर्ण बातें सुनकर अभयकुमार का धैर्य समाप्त हो रहा था। वह बीच में ही बोला — "यह भाषण किसी डिबेट में देना। यहाँ तो साफ-साफ कहो कि तुम चाहते क्या हो? पहेली न बुझाओ।"

विवेक ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया — "यह कोरा भाषण नहीं, सत्य है, तथ्य है; इसे मजाक में नहीं उड़ाया जा सकता।"

इस पर जब अभय ने कहा — "अधिक भावुक न बनो, मतलब की बात करो।"

तब विवेक उफन पड़ा — "तुम इसे भावुकता समझ रहे हो? मैंने जो कुछ भी कहा है, भावुकता में नहीं; विचारपूर्वक ही कहा है। मैंने इस विषय

पर घंटों सोचा है। मुझे खेद है कि तुम इन विचारों को गंभीरतापूर्वक नहीं ले रहे हो, मजाक में उड़ाना चाहते हो।''

उसकी गंभीरता देखकर अभय शांत होता हुआ बोला —

''भाई! तुम ठीक कहते हो। बात तो यही है, पर समाज में यह सब चल कहाँ पाता है और इसके सम्बन्ध में हम-तुम कर भी क्या सकते हैं?''

विवेक ने उसी वजनदारी के साथ कहा — ''क्यों? अपन क्या नहीं कर सकते? सब-कुछ कर सकते हैं। दूसरों के बारे में न सही, अपने बारे में तो सही निर्णय ले ही सकते हैं, सही कदम उठा ही सकते हैं?''

पस्त होता हुआ अभय बोला — ''यह बात ठीक है कि तुम चाहे जैसी भी शादी करो, पर लड़की तो चुननी ही होगी। चाहे आप चुनें या आपके माता-पिता।''

दार्शनिक मुद्रा में समझाते हुए विवेक कहने लगा — ''चुनने का सवाल ही कहाँ उठता है? पुनर्जन्म मानने वाली भारतीय विचारधारा में यह सब निश्चित ही है। यही कारण है कि भारत में वर या कन्या की खोज की जाती है, उन्हें चुना नहीं जाता। वर खोजना, कन्या खोजना शब्द का व्यवहार यह बताता है कि है तो सब पूर्व निश्चित ही, पर पता न होने से मात्र खोज की जाती है।''

''ठीक है।'' अभय बोला — ''ये दार्शनिक पहेलियाँ अपनी समझ में नहीं आतीं। मुझसे तो साफ-साफ कहो कि मैं पिताजी से क्या कह दूँ?''

विवेक ने कहा — ''यही कि वे जहाँ भी सम्बन्ध करें, मुझे कोई एतराज नहीं है; पर यह ध्यान रखें कि मैं शादी में अधिक आडम्बर पसन्द नहीं करता। दोनों ही ओर से पैसे की बर्बादी मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं। मैं तो सादगी से आदर्श शादी करना चाहता हूँ। लड़की देखकर शादी की जाये, पार्टी देखकर नहीं। इससे अधिक मैं कुछ नहीं चाहता। मुझे स्वयं लड़की देखने कहीं नहीं जाना है। यह सब काम पिताजी और माँ का है, वे ही करें।''

अभयकुमार द्वारा जब यह समाचार अर्हत्‌दास और जिनमती को प्राप्त हुए तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा — ''शादी जैसी वह चाहेगा, उसी

की इच्छानुसार सादगी से होगी। किन्तु हम यह अवश्य चाहेंगे कि वह बहू की खोज में हमारी मदद करे। यद्यपि उसका यह कहना सही है कि हमें उससे अधिक अनुभव प्राप्त है; तथापि प्रत्येक का देखने का दृष्टिकोण और रुचि अलग-अलग होती है।

तुम उससे कह देना कि हम उससे अनुमति लिए बिना कहीं भी सगाई पक्की नहीं करेंगे।''

ठीक ही है। क्योंकि माता-पिता का यही कर्त्तव्य है कि वे अपनी संतान के शादी-विवाह जैसे महत्वपूर्ण काम उनकी सम्मति से ही करें। साथ ही संतान का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने अनुभवी माता-पिता के अनुभव से पूरा-पूरा लाभ उठावें। सगाई-शादी सम्बन्धी सारी औपचारिकताएँ उनके द्वारा ही होनी चाहिए। इसमें दोनों की मर्यादा भी बनी रहती है और काम भी ठीक होता है।

तब मध्यम श्रेणी के एक सामान्य गृहस्थ की सुयोग्य, सुन्दर, कम पढ़ी-लिखी, रूपमती कन्या से अत्यन्त सादगी से उसका सम्बन्ध हो गया।

उनके आदर्श और त्याग की सर्वत्र चर्चा थी। सभी कह रहे थे कि यदि वे चाहते तो उन्हें लाखों रुपया दहेज में मिल सकता था। कई करोड़पति उनके दरवाजे पर चक्कर काट रहे थे। एक तो इतना सुन्दर व पढ़ा-लिखा इकलौता लड़का, दूसरे पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी। कौन कन्या उसका वरण कर अपने को भाग्यवती न मानती और कौन माता-पिता उसके हाथ में अपनी कन्या का हाथ देकर अपने को कृतार्थ नहीं मानते? उन्होंने एक मध्यम स्थिति के परिवार की कन्या स्वीकार कर यह बता दिया कि शादी कन्या से की जाती है, धन-दौलत से नहीं।

कोई कह रहा था कि फिजूलखर्ची की परम्पराएँ तोड़कर भी तो उन्होंने आदर्श प्रस्तुत किया है। ऐसे युवक ही देश और समाज का भला कर सकते हैं।

इसप्रकार जन-जन द्वारा प्रशंसा के शब्द सुनते हुए वर-वधू ने अपने घर में प्रवेश किया।

र

२

रूप, गुण, सम्पत्ति एवं यौवनसम्पन्न विवेककुमार और रूपमती का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। वे एक दूसरे को पाकर अपने को कृतकृत्य मानते थे। उनके माता-पिता भी उनके सुखी गार्हस्थ्य जीवन को देखकर प्रसन्न थे। रूपमती भी अपने सास-श्वसुर को माँ-बाप के समान ही आदर-सम्मान देती और सेवा-शुश्रूषा करती।

उनके सीमित और सुखी परिवार को देखकर सज्जनों को सहज प्रसन्नता और दुर्जनों को ईर्ष्या होती थी।

यद्यपि विवेककुमार और रूपमती में सर्वप्रकार लौकिक सुमेल था एवं दोनों की प्रवृत्तियाँ भी धार्मिक थीं, तथापि उनमें वैचारिक स्तर पर समानता न थी। विवेककुमार परीक्षाप्रधानी व्यक्ति था। वह प्रत्येक बात तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करता। जो तर्क की तुला पर खरा न उतरता, उसे वह मानने को तैयार न होता; किन्तु रूपमती का विचार था कि धर्म तो श्रद्धा की चीज है। शास्त्रों और महात्माओं में सच्चे-झूठे और अच्छे-बुरे का भेद करना ठीक नहीं। सभी ठीक हैं। सभी शास्त्रों में कुछ न कुछ बातें अच्छी व सच्ची होती ही हैं। इसीप्रकार सभी महात्माओं में कुछ न कुछ अच्छाइयाँ होती ही हैं, हमें उन्हीं की ओर ध्यान देना चाहिए। किसी की बुराई देखने से क्या? हमें तो सबका आदर-सम्मान करना चाहिए। हमारे लिए तो सभी पूज्य हैं।

यदि हम देव-शास्त्र-गुरु की भी परीक्षा करने लगे तो हो गया कल्याण! वे जैसे होंगे, उसका फल वे भोगेंगे। हमें तो उपासना करनी है, पूजा-सेवा करनी है। हमें तो पूजा-सेवा का फल प्राप्त होगा ही। हम क्यों परीक्षा-वरीक्षा के चक्कर में पड़ें? और उनकी परीक्षा करें भी कैसे? यह तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं कि वे सच्चे हैं या झूठे। सच्चे-झूठे के चक्कर में हम क्यों पड़ें?

हम तो सीधा-सा जानते हैं कि हमारे कुल में जिन देवी-देवताओं की पूजा होती आई है, उनकी हम भी पूजा करें। हमारे पूर्वज जिन गुरुओं और शास्त्रों

को मानते आये हैं, उन्हें हम भी मानें। क्या हमारे बाप-दादा मूर्ख थे जो उन्हें मानते थे। हाय राम! देखो तो कैसा जमाना आ गया है कि अपने बाप-दादाओं की परम्परा छोड़ना चाहते हैं, उन्हें मूर्ख सभझने लगे हैं।

देव-शास्त्र-गुरु की भी परीक्षा करने को तैयार हैं। जरा अपने को तो देखो, कैसे हो? जैसे गृहस्थ, वैसे साधु। अपने को देखेंगे नहीं और साधुओं की टीका-टिप्पणी करेंगे।

धर्म तो कुछ रहा ही नहीं। शास्त्रों में भी सच्चे-झूठे की बात होने लगी है। कहीं शास्त्र भी झूठे होते हैं? शास्त्र तो शास्त्र हैं, वे झूठे कैसे? शास्त्रों को झूठ कहते शरम भी नहीं आती इनको। कुछ किसी का डर-भय तो रहा नहीं। अरे! न डरो किसी से, पर पाप से तो डरो!

अपने को तो ऐसी बातें पसन्द नहीं। अपन तो इतना ही जानते हैं कि अपने कुलदेव ही देव हैं, और अपने पुरखे जिनको मानते आ रहे हैं — वे ही गुरु हैं, वे ही शास्त्र हैं।

कुछ इसप्रकार की ही विचारधारा थी रूपमती की; पर विवेक इन बातों को दकियानूसी मानता था। उसका कहना था -

धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है। धर्म का कुल से क्या सम्बन्ध? धर्म का सम्बन्ध तो निज विवेक से है। विभिन्न कुलों में विभिन्न प्रकार के धर्मों की उपासना की जाती है — उनमें कोई राग को धर्म मानता है, कोई वीतरागता को; कोई भोग में धर्म मानता है, कोई त्याग में। परस्पर विरुद्ध होने से दोनों में तो धर्म होना संभव नहीं है, पर यदि कुलप्रवृत्ति को धर्म माना जाएगा तो फिर दोनों को ही धर्म मानना पड़ेगा।

जरा विचारिए तो सही कि यदि हम उस कुल में पैदा हुए होते, जिसमें मद्य-मांसादि का सेवन किया जाता है तो क्या फिर उनका सेवन भी धर्म होता? क्या फिर हम यह तर्क देते कि 'क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे?'

लौकिक बातों में तो हम पूर्वजों का अनुकरण नहीं करते हैं। हम यह कभी नहीं कहते कि हमारे पूर्वज गरीब थे तो हम भी गरीब ही रहेंगे। वे बिना पढ़े-लिखे या कम पढ़े-लिखे थे तो हम भी नहीं पढ़ेंगे या कम पढ़ेंगे। उनसे कोई चोरी आदि का अपराध बन गया था तो हमें भी वह करना ही चाहिए।

हमने उनके अनुरूप वस्त्रादि का पहनना, मकानादि का बनाना आदि सभी लौकिक कार्य छोड़ दिए हैं। पर धर्म के नाम पर उसी से चिपटे रहना चाहते हैं।

विवेक का कहना तो यहाँ तक था कि यदि हम सच्चा भी धर्म कुलाचार जानकर अपनाते हैं तो वह कुल प्रवृत्ति ही होगी, धर्म नहीं। **धर्म तो व्यक्तिगत विश्वास है, जो विवेकपूर्वक स्वीकार किया जाता है।**

विवाहादि कुलसम्बन्धी कार्यों में कुल का विचार करें तो किसी अपेक्षा ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु धर्म धारण में कुल का विचार करना ठीक नहीं।

इसीप्रकार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझे बिना ही यह कहना कि हमारे कुल देवता ही देव हैं और पूर्वजों द्वारा मान्य शास्त्र-गुरु ही शास्त्र-गुरु हैं; गले उतरने जैसी बातें नहीं हैं।

जो वीतरागी और सर्वज्ञ हों, वे ही देव हैं। वीतरागी-सर्वज्ञदेव की वीतरागता की पोषक वाणी ही शास्त्र है, तथा वीतरागी मार्ग पर चलने वाले शुद्धोपयोगी संत ही गुरु हैं। यह जाने बिना ही किसी को भी देव-शास्त्र-गुरु मान लेना और भोगादि प्राप्ति की आकांक्षा से उनकी उपासना करना कहाँ तक उपयुक्त है।

रागी-वीतरागी सभी देवों को एक-सा मानना, तत्त्व-विवेचक शास्त्रों और तोता-मैना के किस्सों — दोनों को शास्त्र मानना, तथा शुद्धोपयोगी संतों और भोगियों — दोनों को साधु स्वीकार करना विवेकसंगत नहीं कहा जा सकता।

यह कहना विवेककुमार को सही प्रतीत नहीं होता था कि इनकी परीक्षा सम्भव नहीं। **विवेकी को क्या सम्भव नहीं है?** दुनिया में तो हम किसी भी वस्तु को स्वीकार करते समय पूरी परीक्षा करते हैं। यह नहीं कहते कि मैं तो इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूँ, मैं क्या परीक्षा करूँ? वहाँ तो बुद्धि अनुसार परीक्षा करते ही हैं। फिर धर्मक्षेत्र में ही क्यों बुद्धि को गिरवी रखकर काम करना चाहते हैं?

विवेक को विवेकपूर्वक धर्म धारण करने में पूर्वजों की अवमानना प्रतीत नहीं होती थी। धर्म के मामले में आँख मीचकर चलना उसे स्वीकार न था।

विवेक को रूपमती की श्रद्धा अंध-श्रद्धा लगती और रूपमती को विवेक का विवेक व्यर्थ का तर्क-वितर्क। यदि विवेक रूपमती के विवेकहीन क्रियाकाण्ड से परेशान था तो रूपमती विवेक के अध्ययन-मनन, तत्त्वचर्चा को कोरी माथापच्ची समझती थी। उसका विचार था कि वे कोरी बातें बनाते हैं, करते-धरते तो कुछ हैं नहीं।

विवेकहीन धोती के धर्म में उलझी रूपमती विवेकसम्मत धर्म को कैसे स्वीकारे? विवेक की एकमात्र समस्या यह थी।

विवेक ने जब देखा कि सीधा समझाने से कोई लाभ नहीं होता, किन्तु वातावरण और भी अधिक विक्षुब्ध हो जाता है तो उसने एक उपाय सोचा और रूपमती से तीर्थयात्रा पर चलने का प्रस्ताव किया।

ठीक ही है। क्योंकि किसी की पूर्व-मान्यता का यदि सीधा खण्डन किया जाये तो विवेक उत्पन्न न होकर, कषाय ही उत्पन्न होती है। **अतः विवेकी का कार्य तो यही है कि अपनी बात इसप्रकार रखे कि सुनने वाले के सम्मान को चोट भी न पहुँचे और सत्य उसके सामने आ जाए।**

दूसरी बात यह भी तो है कि घंटों का उपदेश जिस बात को किसी के गले नहीं उतार सकता, वह बात प्रयोग द्वारा एक क्षण में स्वीकृत हो जाती है।

नारियाँ स्वभावतः ही भ्रमणप्रिय होती हैं, फिर पति के साथ भ्रमण का अवसर कौन नारी खोना चाहेगी? तीर्थयात्रा का भ्रमण और वह भी पति के साथ, यह तो भारतीय नारी के जीवन की सबसे बड़ी साध होती है।

अतः विवेक का यह प्रस्ताव रूपमती द्वारा सहज ही स्वीकृत हो गया।

३

नारियाँ सहज ही श्रद्धामयी होती हैं। धार्मिक भावना भी उनमें पुरुषों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है, पर समुचित शिक्षण के अभाव में उनमें विवेक का विकास नहीं हो पाता। एक तो शीघ्र यौवनागम के कारण उन्हें पढ़ने का समय कम मिल पाता है, दूसरे उनकी शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान भी नहीं दिया जाता। सहज श्रद्धावान नारी में यदि समुचित शिक्षा के सद्भाव से विवेक का भी विकास हो जावे तो सोने में सुगन्ध हो जाने की कहावत चरितार्थ हो जावे।

सहज श्रद्धामयी रूपमती की जितनी आस्था तथाकथित धर्म में थी, उतनी ही आस्था अपने पति में भी थी। वह अपने पति से पूर्ण सन्तुष्ट थी और उनसे असीम स्नेह भी रखती थी। उनकी सेवा में सदा तत्पर रहती, पर उनकी विवेकपूर्ण तर्कणाओं में उसे नास्तिकता की गंध आती थी।

वह चाहती थी कि उसका पति भी उसके समान आस्तिक बने। इसके लिए उसने अपने इष्टदेव से मन ही मन अनेक प्रार्थनाएँ भी की थीं, अनेक उपवास रखे थे और अतिशय क्षेत्रों को चढ़ावे की बोलमा भी बोल रखी थीं। चमत्कारी भगवान से उसने अनेक बार मनौतियाँ की थीं कि यदि उसके पति रास्ते पर आ जाएँ तो वह भगवान के सामने एक किलो घी का दीपक जलाएगी, सौ रुपये का चांदी का छत्र चढ़ाएगी। और भी अनेक प्रकार के प्रलोभन उसने भगवान को दे रखे थे। तथाकथित गुरुओं के बताए मंत्रों का जाप भी उसने कम नहीं किया था, गंडा-तावीज भी बाँध चुकी थी; किन्तु अभी तक उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। यही एकमात्र तकलीफ थी उसे। क्या करे? उसकी समझ में कुछ आता ही न था।

विवेक के सामने भी एकमात्र समस्या यही थी कि लौकिक कार्यों में सर्व प्रकार उसका अनुगमन करने वाली सर्वांगसुन्दर रूपमती का मानसिक स्तर कैसे ऊँचा उठे? उसका विवेक कैसे जागृत हो? उसकी अंधश्रद्धा सत्श्रद्धा में

कैसे परिणमित हो? विवेक की जागृति के उद्देश्य से ही विवेक ने रूपमती से यात्रा का प्रस्ताव किया था। वह चाहता था कि यात्रा के दौरान विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से वह रूपमती को सत्य का साक्षात्कार कराएगा। उसकी अंधश्रद्धा का खोखलापन उसके सामने खोलकर रख देगा। जब वह स्वयं अपनी आँखों के सामने ही विश्वासों को टूटता देखेगी तो अवश्य ही उसका विवेक जागृत हो जायेगा।

यद्यपि रूपमती ने भ्रमणप्रिय नारी स्वभाव के कारण ही उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था, तथापि उसकी मनोभावना यह थी कि जब विवेककुमार स्वयं अतिशय क्षेत्रों के चमत्कार अपनी आँखों से देखेंगे, गुरुओं की महिमा के दर्शन करेंगे तो अवश्य ही उनके तर्क अप्रतिष्ठित हो जायेंगे। उनमें धर्म और धर्मात्माओं के प्रति सहज ही श्रद्धा जागृत होगी।

वे पति-पत्नी दोनों ही एक-दूसरे को सुधारना चाहते थे। सो ठीक ही है, क्योंकि ऐसा कौन सहृदय होगा जो अपने अभिन्नहृदय जीवन-साथी को सन्मार्ग पर नहीं लगाना चाहेगा? **सच्चा साथी और सन्मित्र ही उसे कहते हैं जो अपने साथी और मित्र को हित में नियोजित करे।**

रूपमती ने यात्रा पर चलने का प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया, किन्तु वह यात्रा के कार्यक्रम से सहमत न हो सकी; क्योंकि विवेककुमार ने जो कार्यक्रम बनाया था उसमें सिद्ध क्षेत्रों की यात्रा ही प्रमुख रूप से थी, किन्तु रूपमती अतिशय क्षेत्रों की वंदना करना चाहती थी। उसकी आस्था अतिशय क्षेत्रों में अधिक थी; क्योंकि उनके साथ चमत्कारिक कथाएँ जुड़ी रहती हैं। उसकी दृष्टि में उसके मनोरथ की पूर्ति अतिशय क्षेत्रों की वंदना से ही सम्भव थी।

उसने बचपन से ही सुन रखा था कि अमुक तीर्थ की वंदना से अमुक रोग दूर होता है, अमुक तीर्थ में विराजमान अमुक भगवान की अमुक मूर्ति की अर्चना से पुत्रादि की प्राप्ति होती है। ये भगवान विघ्नहरण हैं, तो वे संकटहरण। ये शान्ति करते हैं, तो वे रक्षा। न जाने और कितनी-कितनी कपोलकल्पित कथाएँ उसने सुन रखी थीं।

उसने वशीकरण मंत्रों के बारे में भी सुन रखा था, जो तंत्र-मंत्रवादी चमत्कारी तथाकथित गुरुओं की कृपा से ही मिल सकते थे। यही एकमात्र कारण था रूपमती के चमत्कारी क्षेत्रों की वंदना के आकर्षण का।

विवेककुमार को इन कपोलकल्पित कल्पनाओं में जरा भी विश्वास नहीं था। जिन आदिनाथ से महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकरों ने कर्त्तावाद का डटकर निषेध किया, उन्हीं को दूसरों के सुख-दु:ख का कर्त्ता कहना, उसके विवेकसम्मत मानस को स्वीकार न हो पाता था। उसकी सहज श्रद्धा सिद्ध क्षेत्रों व कल्याणक क्षेत्रों के प्रति थी। उनका कण-कण उसे वीतरागी भगवान का स्मरण करा देता था।

उसने कल्याणक तीर्थों की बहुत प्रकार से महिमा वर्णन कर रूपमती को समझाने का भरसक यत्न किया, पर रूपमती की समझ में कुछ नहीं आया। वह अपने हठ से रंचमात्र न हटी। अतिशय क्षेत्रों की यात्रा को प्रमुखता दिए बिना वह यात्रा को जाने पर भी तैयार न थी। सो ठीक ही है; क्योंकि **बालक और स्त्रियाँ जब हठ पर अड़ जाती हैं तो उन्हें भगवान भी नहीं समझा सकता और समझ में समझाने से आता ही कब है, समझने से आता है।**

जो समझना ही न चाहे, उसे कौन समझा सकता है? दूसरा तो मात्र निमित्त होता है, समझना तो स्वयं को ही पड़ता है। पर जो व्यक्ति यह समझ बैठा हो कि मैं जो समझता हूँ, वही सही है; वह तो दूसरों को समझाने के प्रयत्न में ही रहता है, स्वयं समझने का प्रयास ही नहीं करता। उसकी समझ में आवे भी तो कैसे?

जो समझना चाहता है, उसे समझाया जा सकता है। जो हट पर आ जावे, अपनी बात की ही रट लगाए रहे, दूसरे की सुने ही नहीं; उसे भगवान भी नहीं समझा सकते।

नासमझ होते हुए जो अपने को समझदार मान बैठा हो, उसे समझाना कठिन ही नहीं; असम्भव है। अत: सर्वप्रथम हमें अपने अज्ञान का ज्ञान करना चाहिए। अपने अज्ञान के ज्ञान बिना, कोई समझने को ही तैयार नहीं होता। जो अन्तर से समझने को तैयार होता है, वही समझ सकता है और समझाने वाले का प्रयत्न भी उसे ही समझाने में सफल होता है।

परिस्थिति की विषमता देखकर विवेककुमार ने विवेक से काम लिया और रूपमती का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सो ठीक ही है; क्योंकि **विवेकीजन यथासंभव संघर्ष को टालने में ही अपनी जीत समझते हैं, उलझने में नहीं।**

ज्ञानी और अज्ञानी में यदि कभी संघर्ष हो तो जीत सदा अज्ञानी की ही होती है; क्योंकि संघर्ष ज्ञान से नहीं, कषाय से चलता है। ज्ञानी की कषाय कमजोर होने से उसका संघर्ष का संकल्प शीघ्र क्षीण हो जाता है।

ज्ञानी तो अपनी जीत संघर्ष समाप्त करने में ही मानता है। अतः जब वह संघर्ष बिना शर्त समाप्त कर देता है या संघर्ष करता ही नहीं है, तो बाहर से ऐसा दिखाई देता है कि वह हार गया है।

हार और जीत — यह भाषा ही कषाय की है, ज्ञान की नहीं। ज्ञान की भाषा तो सत्य-असत्य के निर्णयरूप होती है, हार और जीत के निर्णयरूप नहीं।

दूसरी बात यह भी तो है कि ज्ञानी को दुतरफा संघर्ष करना पड़ता है — एक अन्दर और दूसरा बाहर। अन्तर में एक ओर कषायभाव संघर्ष करने की प्रेरणा देता है, तो दूसरी ओर विवेक संघर्ष से बचने का मार्ग सुझाता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में यदि कषायभाव जीत गया और ज्ञान हार गया, तभी वह संघर्ष में उलझता है; अन्यथा नहीं।

संघर्ष में उलझना ही ज्ञान की हार है। ज्ञान हारा तो ज्ञानी ही हारा। अतः संघर्ष करने में ही ज्ञानी हार गया। यदि अन्तर में ज्ञान जीत गया तो फिर वह संघर्ष करेगा ही नहीं। तब अज्ञानी की चल जाने से बाहर में ज्ञानी हारा दिखाई देगा ही। **वास्तव में ज्ञानी की हार ही उसकी सबसे बड़ी जीत है।**

ज्ञानी तो अपने प्रयोजन की सिद्धि की सफलता में ही अपनी जीत मानते हैं। अतः वस्तुतः वे कभी हारते ही नहीं; क्योंकि वे येन-केन-प्रकारेण अपने प्रयोजन की सिद्धि को ही लक्ष्य में रखते हैं।

यही सोचकर विवेक ने रूपमती की इच्छानुसार कार्यक्रम स्वीकार कर लिया और एक दूसरे को सही राह पर लाने की भावना मन में संजोये वे दोनों तीर्थों की राह पर चल पड़े।

४

जिसप्रकार कस्तूरी तो मृग की नाभि में ही रहती है, किन्तु वायु के वेग से उसकी गंध जब वन में चारों ओर फैलती है, तो वही हिरण उस गंध की खोज में जंगल में बेतहाशा चक्कर काटने लगता है, यहाँ तक कि उसी की खोज में दौड़ते-दौड़ते थककर गिर जाता है, मर तक जाता है; उसीप्रकार यह प्राणी भी सुख और शांति की खोज में दर-दर की ठोकर खाता फिरता है, जबकि वह स्वयं आनन्द का कन्द और ज्ञान का घनपिण्ड है। शान्ति और सुख की खोज में वह पर की ओर ही देखता है, अपनी ओर नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दु:ख के कारण स्वयं उसमें ही विद्यमान हैं। अनादि अज्ञान के कारण वह अपने सुख-दु:ख का कारण पर को मानता आ रहा है; अत: उसका सारा प्रयत्न पर को सुधारने के विकल्प में ही लगा रहता है; वह परोन्मुखी ही बना रहता है, स्वोन्मुख कभी नहीं होता।

रूपमती की दृष्टि में उसके दु:ख विवेककुमार की नास्तिकता के कारण थे और वह समझती थी कि विवेक के सुधरते ही वह सुखी हो जायेगी। विवेक भी यही मानता था कि मेरी अशान्ति का कारण अन्धश्रद्धालु विवेकहीन पत्नी है। यदि वह ठीक हो जाये तो उसके घर में सुख-शान्ति का साम्राज्य उतर आयेगा।

स्वयं को सुधारने की चिन्ता किसी को भी न थी। दोनों एक दूसरे को सुधारने के विकल्प-जाल में ही उलझे थे। दूसरे को सुधारने के उद्देश्य से ही दोनों यात्रा पर निकले थे, स्वयं के सुधार के लिए नहीं।

यह आत्मा दूसरों को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में जितनी शक्ति और समय नष्ट करता है, यदि उसका शतांश भी अपने को सुधारने में लगाए तो यह पूर्ण सुखी हुए बिना न रहे।

अपनी यात्रा के प्रथम चरण में ही वे जिस बहुचर्चित अतिशय तीर्थक्षेत्र पर पहुँचे, वहाँ वे अकेले ही इसप्रकार की समस्या से पीड़ित न थे; बल्कि अनेकानेक स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी अनेक समस्याएँ लिए हुए वहाँ आए थे।

कोई सन्तान की कामना से आया था, तो कोई शादी-विवाह के चक्कर में था। किसी को मुकदमा हार जाने का डर था, तथा साथ ही भगवान पर पूरा भरोसा भी था कि यदि भगवान ने चाहा तो वह निश्चित ही जीत जावेगा। यहाँ के भगवान ऐसे ही चमत्कारी हैं।

यद्यपि उसका पक्ष कमजोर ही नहीं, बिल्कुल गलत है; पर इससे क्या अन्तर पड़ता है, भगवान तो सर्वशक्तिमान हैं। जीत-हार का निर्णय सत्य-असत्य से होता ही कब है? वह तो शक्ति-अशक्ति के आधार पर होता है।

उसका कहना था कि यदि मेरा पक्ष सत्य और मजबूत होता तो फिर भगवान के सहयोग की आवश्यकता ही क्या थी? फिर उसमें भगवान करते भी क्या? भगवान की शरण में आने की आवश्यकता ही इसलिए पड़ी कि मेरा पक्ष कमजोर ही नहीं, असत्य भी है। यदि वकीलों से या कुछ लेन-देन से ही काम चल जाता तो मैं भगवान को कष्ट देता ही क्यों? छोटे-मोटे काम तो मैं घर पर कुछ ले-देकर वैसे ही निबटा लेता हूँ, उनके लिए भगवान को कष्ट थोड़े ही देता हूँ। पर यह मामला ही ऐसा उलझ गया है। फौजदारी का मामला है न, कुछ गड़बड़ हो गया तो सीधा जेल जाना होगा।

यह बात सही है कि मुझ से गलती हो गई है। मैंने उसे व्यर्थ ही बिना अपराध के दो-चार लाठियाँ जड़ दी थीं। किन्तु मैं करता भी क्या? जब उसने बात न मानी तो मुझे क्रोध आ गया। उस दो कौड़ी के आदमी की यह मजाल कि मेरी बात न माने? बाद में तो मैंने भी बहुत सोचा कि अपने को क्या मतलब था? उसकी वह जाने, पर उस समय ··· ।

कोई विशिष्ट बीमारी से परेशान होकर आया था। जब वैद्य, हकीमों और डॉक्टरों ने जवाब दे दिया, तब उसे भगवान याद आए थे। वैद्य, डॉक्टरों के समान वह भगवान को भी आजमा लेना चाहता था। उसके लिए भगवान एक बड़े डॉक्टर से अधिक कुछ न थे। जब डॉक्टरों में इतने पैसे बिगाड़े और समय बर्बाद किया तो थोड़ा-बहुत भगवान के नाम पर ही सही।

उसकी दृष्टि में भगवान डॉक्टरों के समान विश्वसनीय भी नहीं थे; क्योंकि उसने जब डॉक्टरों से इलाज कराया था तो कोई ऐसी शर्त नहीं रखी थी कि पैसा रोग ठीक होने पर मिलेगा, यदि रोग ठीक नहीं हुआ तो नहीं मिलेगा। पर भगवान से सौदा सशर्त ही किया था। ठीक होने पर ही चढ़ावा चढ़ाना बोला था।

कोई गरीबी से परेशान था और भगवान को पाँच रुपये का लोभ देकर पाँच लाख ऐंठने की आकांक्षा रखता था।

विवेककुमार ने जब देखा कि यहाँ तो भक्तों के रूप में भिखारियों की भीड़ इकट्ठी है, तो उसका मन वितृष्णा से भर उठा। वह सोचने लगा —

भक्ति तो भगवान के गुणों के प्रति अनुराग को कहते हैं। पर यहाँ तो कोई जानता भी नहीं है कि भगवान किसे कहते हैं? उनमें कौन-कौन से गुण होते हैं? किसी को भगवान को पहिचानने की, उनके गुणों को जानने की दरकार ही नहीं। उनमें भक्ति का उदय भी कहाँ से हो? भक्ति के बिना भक्त कैसे?

ये सब लोग तो भोगों की भीख माँगने आए हैं, ये भोगों के भिखारी हैं। इन्हें इतना भी ध्यान नहीं है कि जिन भोगों को भगवान ने स्वयं दु:खरूप और दु:ख के कारण जानकर त्याग दिया है, वे भक्तों को क्यों देंगे?

वे दे भी कैसे सकते हैं, उनके पास हैं भी कहाँ? वे तो उन्हें त्याग ही चुके हैं। और किसी के देने से भोग मिलते ही कब हैं? वे तो अपने पुण्योदय से प्राप्त होते हैं।

यद्यपि भगवान की भक्ति से पुण्य बँधता है और उसके उदय में भोगों की प्राप्ति भी होती है, पर इन तथाकथित भक्तों में भक्ति है ही कहाँ ? भोगों की आकांक्षा तो पापभाव है, इससे तो पाप का ही बंध होगा। पाप के उदय में भोगों की भी उपलब्धि कैसे हो? **भोगों की आकांक्षा से भक्ति के नाम पर भगवान से भोगों की भीख मांगने वालों को पुण्य का बंध भी नहीं होता है।**

विचारमग्न विवेककुमार माथे पर हाथ रखे खम्भे के सहारे खड़ा था। उसी समय रूपमती आई और कहने लगी –

"देखी आपने सच्चे भक्तों की भक्ति और भगवान का चमत्कार! यहाँ के भगवान कितने चमत्कारी हैं? इसको अपनी आँखों से देखो! उनकी उपासना से किस-किस को कितना-कितना लाभ हुआ है, अपने कानों से सुनो।

जो अपने बगल वाले कमरे में ठहरे हुए हैं, वे अभी-अभी कह रहे थे कि हमारा यह बच्चा तो भगवान महावीर की कृपा से ही हुआ है; अत: हमने इसका नाम महावीरकुमार रखा है। हम तो हार-थककर बैठ गये थे। पाँच लड़कियाँ हो गई थीं, पर लड़का एक भी न था। पड़ौसन के कहने से दो वर्ष पूर्व आधे मन से वैसे ही बोल गए थे कि अब की बार यदि बच्चा हुआ तो मन्दिर का फर्श जड़ा देंगे। और देखो पाँच-छ: माह बाद ही बच्चा हो गया। उसी डेढ़ वर्ष के बालक को लेकर वंदना करने आए हैं, फर्श जड़वा रहे हैं। तुम तो कुछ करते ही नहीं।"

रूपमती की मूर्खतापूर्ण बातों को सुनकर पहले से ही उद्विग्न विवेक उत्तेजित हो कहने लगा -

"जैसी मूर्ख तू, वैसे ही वे! जरा विचार तो कर! बोलमा बोलने के पाँच-छ: माह बाद ही बच्चा हो गया। इसका अर्थ है कि तीन-चार माह का गर्भ पहिले से ही था और गर्भ में उस समय बच्चा ही था, कोई बच्ची का बच्चा नहीं हो गया।"

उत्तेजित विवेक जोर-जोर से बोलने लगा और उसके चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गई। लोग उसकी तर्कसंगत बातों को ध्यान से सुन रहे थे और वह धारा प्रवाह बोले जा रहा था -

"वीतरागी परमात्मा का उपासक तो वीतरागता का ही उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुत: वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

सच्ची भक्ति के समय चित्त इतना दीन नहीं रह सकता कि वह कुछ माँग करे। माँगने वाले के मन में भक्ति ठहर ही नहीं सकती। वीतराग की भक्ति में तो माँगना संभव ही नहीं, वीतराग का भक्त तो कुछ माँग ही नहीं सकता। जो माँगे वह वीतराग का भक्त है ही नहीं।

माँगने में कुछ बदलने का भाव रहता है, अतः माँगने वाले ने वस्तु का सहज परिणमन स्वीकार नहीं किया। माँगने में अन्याय भी है; क्योंकि दुःख तो उसके कर्मों का फल है, जिसे वह भोगना नहीं चाहता, भगवान के माध्यम से माफ कराना चाहता है। कोई व्यक्ति चोरी करे, चोरी करना न छोड़ना चाहे और उसके फल को भी न भोगना चाहे और उसमें भगवान की सहायता चाहे, यह कहाँ का न्याय है? और भगवान उसमें सहयोग करेंगे भी क्यों?

वीतरागी भगवान का सच्चा स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण उपासना में अनेक विकृतियाँ आ जाना संभव है। यही कारण है कि आज हम देव-मूर्त्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और 'चमत्कार को नमस्कार' की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्त्ति और मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथाएँ जुड़ी पाते हैं; उन मन्दिरों में, विशेषकर उन मूर्तियों के समक्ष, तथाकथित भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, सन्तानादि की प्राप्ति की कल्पनाएँ प्रसारित हैं, वहाँ तो खड़े होने तक को स्थान नहीं मिलता और शेष मन्दिर खण्डहर होते जा रहे हैं, वहाँ की मूर्त्तियों की धूल साफ करने वाला भी दिखाई नहीं देता।

एक भगवान महावीर की हजारों मूत्तियाँ हैं। उन सब मूर्त्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक्-पृथक् मन्दिरों में पृथक्-पृथक् मूर्त्तियों के माध्यम से पूजे जाने वाले भगवान महावीर पृथक्-पृथक् नहीं वरन् एक हैं।

भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारों और सन्तान धनादि देने के कारण नहीं। जो महान आत्मा स्वयं धनादि और घर-बार छोड़कर आत्म-साधनारत हुए हों, उनसे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है? उनको भोगादि का देने वाला कहना उनकी वीतरागता की मूर्त्ति को खण्डित करना है।

एक तो वीतरागी भगवान प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते ही नहीं हैं और न अप्रसन्न होकर किसी का कुछ बिगाड़ ही करते हैं; दूसरे यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दुःख देने वाला मान भी लिया जाये तो भी

यह कैसे सम्भव है कि वे अमुक मूर्ति के माध्यम से ही कुछ देंगे, अन्य मूर्त्ति के माध्यम से नहीं।

यदि यह कहा जाये कि वे तो कुछ नहीं देते, किन्तु उनके उपासक को सहज ही पुण्य-बंध होता है तो क्या अमुक मूर्त्ति की पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मन्दिर में या अन्य मूर्त्तियों के सामने नहीं।

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भी भेदभाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं तो शान्तिनाथ शान्ति। इसीप्रकार शीतलनाथ शीतला (चेचक) को ठीक करने वाले हैं और सिद्ध भगवान को कुष्ठरोग निवारण करने वाला कहा जाता है।

भगवान तो सभी वीतरागी-सर्वज्ञ, एक-सी शक्ति अनन्तवीर्य के धनी हैं, उनके कार्यों में यह भेद कैसे संभव है? एक तो भगवान कुछ करते ही नहीं, यदि करें तो क्या शान्तिनाथ पार्श्वनाथ के समान रक्षा नहीं कर सकते और पार्श्वनाथ शान्तिनाथ के समान शान्ति नहीं कर सकते? ऐसा कोई भेद तो अरहन्त-सिद्ध भगवन्तों में है नहीं।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने-अपने भावों द्वारा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल है। भगवान का उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे तो कृतकृत्य हैं, वे कुछ करते नहीं, उन्हें कुछ करना शेष ही नहीं रहा, वे तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान को सही रूप में पहिचाने बिना सही अर्थों में उनकी उपासना की ही नहीं जा सकती। परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं; अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिए। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतरागता का उपासक हो ही नहीं सकता।

विषय-भोगों की अभिलाषा से भक्ति करने पर तीव्र कषाय होने से पाप-बंध ही होता है, पुण्य का बन्ध नहीं होता।''

विवेक की गंभीर गर्जना को सुनकर लोग बहुत प्रभावित हुए। उनमें से एक बोला।

"भाई साहब! आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। यह सब ऐसे ही चल रहा है, कोई कुछ समझता तो है नहीं। यहाँ तो वही आता है, जिसका काम हो जाता है; जिसका काम नहीं होता, वह यहाँ दुबारा आएगा ही क्यों? अतः यहाँ तो यही कहने वाले मिलेंगे कि मेरा यह हो गया, वह हो गया। पर उनसे भी तो पूछिये जो हजारों की बोलमा बोल गए, पर कुछ भी नहीं हुआ। **होता वही है, जो होना होता है।**"

दूसरा बोला – "हमारे यहाँ एक मास्टरजी थे। उनके पास परीक्षा की कापियाँ जँचने आती थीं। अपने-अपने बच्चे की सिफारिश लेकर उनके पास बहुत लोग आते। वे भी हर एक से 'देख लूँगा' कह देते थे।

जब मैंने उनसे कहा कि आप इन कहने वालों के फेल बच्चों को पास कर दोगे क्या? वे बोले - "नहीं तो"।

"फिर आप हाँ क्यों कर देते हो?" मेरे यह पूछने पर वे कहने लगे – "कौन झंझट मोल ले, ना कहूँगा तो और दो-चार को लाएँगे, मुफ्त में शत्रु बन जाएँगे। हाँ करने में अपना क्या बिगड़ता है? करना-धरना तो कुछ है नहीं। देखा नहीं तुमने, उसने रोल नम्बर बताया था, पर मैंने नोट ही कहाँ किया? क्या मुझे सबके रोल नम्बर याद रहने वाले हैं? हाँ कह कर कुछ नहीं करने पर भी आधों से अधिक के भले तो बन ही जाते हैं।"

"वो कैसे"? जब मैंने यह कहा तो कहने लगे – "जिनकी सिफारिश होती है, उनमें से आधे से अधिक तो स्वतः ही पास हो जाते हैं, वे तो व्यर्थ की आशंकाओं से पीड़ित होकर आ जाते हैं। बाद में धन्यवाद देने भी आते हैं कि आपने पास कर दिया, बहुत कृपा की। मुफ्त का यश लेने में क्या हानि है।"

तीसरा बोल उठा – "तो क्या भगवान को भी ऐसा ही मुफ्त का यश मिलता है?"

"हाँ! ऐसा ही है, क्योंकि भगवान पर का कुछ करते तो हैं नहीं; पर इतना अन्तर है कि वे हाँ भी कब करते हैं? झूठा यश चाहते भी कब हैं? अतः उनकी ओर से तो कोई धोखा-धड़ी है नहीं। अज्ञानी स्वयं अपने को धोखा दिया करते हैं।"

चौथा कह उठा — "तो क्या यह सब झूठ है? किसी को कोई लाभ नहीं हुआ है?"

विवेक बोला — "कौन कहता है कि किसी को कोई लाभ नहीं हुआ। पर बात यह है कि उसे जो लाभ हुआ है, उसमें भगवान ने कुछ नहीं किया।

भाई! भगवान पर का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। सबसे बड़ी परेशानी की बात तो यही है कि हम भगवान का सही स्वरूप ही नहीं समझते। तभी तो यह सब ढोंग-धतूरे पनपते हैं भगवान के नाम पर।"

विवेक के व्याख्यान से मर्माहत रूपमती अपने को न रोक सकी। विवेक का हाथ पकड़ कर खींचते हुए बोली — "बहुत हो गया 'व्याख्यान'। चलिए, सबको आराम करने दीजिए। व्यर्थ ही बाजार लगा लिया है।"

पति-पत्नी का झगड़ा होते देख सब लोग अपने-अपने कमरों में चले गए। पर सबके दिमाग में एक ही प्रश्न घूम रहा था कि क्या भगवान किसी का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते?

लगभग सभी सोच रहे थे कि विवेक की बात में कुछ दम तो दिखता है। इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उसकी बात में वजन है। उसे बहक कहकर नहीं उड़ाया जा सकता ···। ●

५

जो आस्थाएँ हृदय में गहरी पैठ जाती हैं, वे सहज समाप्त नहीं होतीं। मर्मस्थल में लगे काँटे को जिसप्रकार सावधानी से निकाला जाता है, उसीप्रकार उन्हें भी अत्यन्त सावधानी से निकाला जाना चाहिए। जोर-जबरदस्ती करने से लाभ के स्थान पर हानि की संभावना अधिक रहती है।

विवेककुमार के उत्तेजनात्मक व्याख्यान ने यद्यपि उपस्थित जन-समुदाय को काफी प्रभावित किया था, उनकी गलत आस्थाओं पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया था, उन्हें एक बार उन पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर दिया था; तथापि रूपमती पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वह उलटी आशंकित हो उठी थी।

रूपमती की आशंका का मूल कारण यह था कि विवेककुमार ने जो कटु आलोचना की हैं, कहीं उससे नाराज हो भगवान उनका कुछ और अनिष्ट न कर दें। उसकी व्याकुलता अपने लिए नहीं, पति के लिए थी। पति के अनिष्ट की आशंका से ही उसने पति का हाथ पकड़कर खींचा था, उन्हें अधिक बोलने से मना किया था। उसने पति का अपमान करने के लिए यह सब-कुछ नहीं किया था। वह तो पति को परमेश्वर के समान मानती थी।

उसने तो आज तक उनसे कोई भी अभद्र व्यवहार नहीं किया था; आज भी नहीं करना चाहती थी। उसने उस समय अपने को रोका भी बहुत था, पर वह क्या करे, उसका मन माना ही न था; न मालूम कैसे उसके कदम बढ़ गए, कैसे उसने सबके सामने पति का हाथ पकड़ लिया, कैसे खींच लिया और कैसे उसकी जबान से बोल फूट पड़े; वह खुद भी नहीं समझ पा रही थी!

यह सब-कुछ, कुछ ही सैकेन्डों में अचानक ही हो गया था। जैसे कोई अदृश्य शक्ति ने ही यह सब-कुछ कर डाला हो, वह कुछ भी नहीं समझ पा रही थी।

उसने आज दूसरी बार सबके सामने पति का हाथ पकड़ा था। पहली बार तो शादी के समय पकड़ा था, वह भी जब सवासन ने जबरदस्ती पकड़वाया था, तब भी बड़े ही संकोच के साथ! पर आज तो उसने सबके सामने स्वयं बड़े नि:संकोच भाव से यह सब कर डाला था।

उस दिन वह रात भर न सो सकी थी। उसका चित्त अनेक आशंकाओं से घिर रहा था। उसकी दृष्टि में उसके पति ने जो अनर्थ कर डाला था, न मालूम उसका क्या परिणाम आए? वह रात भर भगवान से प्रार्थना करती रही कि हे भगवान! तू तो दयानिधान है, क्षमा कर देना उन्हें। मैं उनकी ओर से बार-बार माफी माँगती हूँ। क्या करूँ? उन्हें कई बार समझाया, पर वे तो कुछ समझते ही नहीं। तुम तो सर्वशक्तिमान हो, सब-कुछ कर सकते हो, उन्हें सद्बुद्धि क्यों नहीं देते!

उन्हें कुछ हो गया तो मेरा क्या होगा! न जाने कितनी आशंकाओं से घिरी वह रात्रि के अन्तिम पहर तक सो भी न सकी थी।

विवेककुमार अपने उद्‌गार निकालकर कुछ हलका तो हो गया था। लोगों की अनुकूल प्रतिक्रिया देख कुछ उत्साहित भी हुआ था, पर रूपमती पर हुई प्रतिकूल प्रतिक्रिया ने उसे भी उद्विग्न कर दिया था।

वह सोच रहा था कि यद्यपि ऑपरेशन से रोग जड़-मूल से उखड़ जाता है, तथापि रोगी यदि इतना कमजोर हो कि ऑपरेशन को बरदाश्त ही न कर सके तो ऑपरेशन करना खतरनाक भी सिद्ध हो सकता है। कमज़ोर मरीज को औषधोपचार से ही ठीक करने का यत्न किया जाना चाहिए। यदि ऑपरेशन ही एकमात्र इलाज हो तो औषधोपचार से ऑपरेशन के योग्य सशक्त बनाकर फिर ऑपरेशन किया जाना चाहिए।

मुझे रूपमती के गले अपनी बात उतारने का यह तरीका अपनाना उचित नहीं था। उसे पहले तत्त्वज्ञान का अभ्यास कराना चाहिए। जब उसे तत्त्वज्ञान की पकड़ आएगी, तब उसकी विपरीत मान्यताओं की पकड़ स्वत: ढीली हो जाएगी। बिना मूलतत्त्व के अभ्यास के यदि एक अंधश्रद्धा छूट भी गई तो दूसरी उत्पन्न हो जावेगी।

रूपमती के अशिष्ट व्यवहार ने उसे क्षण भर को उत्तेजित भी कर दिया था, पर वह शीघ्र ही संतुलित हो गया था। वह भी अर्द्धरात्रि तक सो न सका था; किन्तु उसने तत्त्वज्ञान के बल से अपने तनाव को कम कर लिया और रात्रि के तृतीय पहर में नवकारमंत्र का स्मरण करता हुआ सो गया।

अनिष्ट की आशंकाओं से घिरी रूपमती रात्रि के पिछले प्रहर में जब कुछ उनींदी-सी हुई तो उसने एक भयानक स्वप्न देखा। वह देखती है कि एक विकराल राक्षस उसके पति के ऊपर एकदम झपट पड़ा और उन्हें झकझोर रहा है, जान से मारने की धमकी दे रहा है। अरे! अरे!! उसने तो उनका गला ही दबा लिया है; कह रहा है कि और करेगा भगवान का अपमान, गुरुओं की निन्दा। आज मैं इसका फल चखाए बिना न रहूँगा। अब तू इस दुनिया में लोगों को भड़काने के लिए जिंदा ही न रहेगा — ऐसा कहकर उसने ज्योंही उसके पति का जोर से गला दबाया, वह एकदम जोर से चीख उठी।

उसकी चीख सुनकर विवेक की नींद खुल गई। उसने एकदम झकझोर कर उसे जगाया और पूछा — "क्या बात है? क्यों चीख रही हो ?"

अर्द्धजागृत अवस्था में रूपमती उठकर बैठ गई। और कहने लगी —

"हे भगवान! माफ कर दो। मैं आपसे अपने सुहाग की भीख माँगती हूँ। मेरे पति को मत मारो। वे अब ऐसी गलती कभी नहीं करेंगे ··· ।"

न मालूम ऐसी कितनी बातें वह एक साँस में कह गई और विस्फारित नेत्रों से पति की ओर देखते हुए बोली -

"आप ठीक तो हैं न ? आपको कुछ हुआ तो नहीं ? मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि अब आप कभी भी ऐसी बातें न करना। आज तो भगवान ने मेरी लाज रख दी। मैंने भगवान को वचन दिया है कि अब वे कभी ऐसी-वैसी बातें नहीं करेंगे।"

अर्द्धविक्षिप्त अवस्था में रूपमती अत्यन्त दीनतापूर्वक गिड़गिड़ाये जा रही थी और विवेककुमार किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा देख-सुन रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ?

उसे सान्त्वना देते हुए विवेककुमार बोला — "हाँ! हाँ!! नहीं करूंगा। पर तुम चीखी क्यों ? क्या हुआ? इतना घबड़ाने की क्या बात थी ? क्या हो गया ? पागल-सी क्यों हुई जा रही हो ?"

विवेक के सान्त्वनापूर्ण वचन सुन कुछ आश्वस्त-सी होती हुई रूपमती बोली — "अभी-अभी स्वप्न में मुझे भगवान दिखाई दिए। वे राक्षस के रूप में, महाभयंकर अवस्था में थे। विकराल-काल के समान वे एकदम आप पर झपट पड़े और आपका गला घोंटने लगे कि मेरी चीख निकल गई।

उसके बाद तो आप जग ही गए और कुछ हुआ आपने देखा ही है। यदि मैं उनसे आपके प्राणों की भीख न माँगती, अपने सुहाग की रक्षा की प्रार्थना न करती तो न मालूम क्या हो जाता? मेरा तो कुछ भाग्य ही अच्छा था।"

विवेक प्रेम से समझाते हुए बोला — "पगली! स्वप्न से ही डर गई। स्वप्न तो अपने अवचेतन में दबे हुए भावों के ही प्रतिफलन होते हैं। तुम अपनी अंधश्रद्धा के कारण इसप्रकार की सम्भावना की कल्पना कर रही होगी। स्वप्न

तुम्हारी मानसिक भयाक्रान्त अवस्था को ही व्यक्त करता है। इससे मेरा और भगवान का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि मैंने कुछ बुरा किया था तो मेरा बुरा होना चाहिए था या बुरा स्वप्न भी मुझे ही आना चाहिए था, वह तुम्हें क्यों आया? भगवान को स्वप्न में ही डराना-धमकाना था तो मुझे डराते-धमकाते, तुम्हें क्यों ? गलती तो मैंने की थी, तुम्हारा तो कोई अपराध न था?

दूसरी बात यह भी तो है कि **भगवान तो वीतरागी होते हैं। वे प्रशंसक से प्रसन्न और निन्दक से नाराज नहीं होते। भगवान तो शत्रु-मित्र दोनों में समभाव रखने वाले होते हैं।** प्रशंसकों से प्रसन्न और निन्दकों से नाराज होना तो हम-तुम जैसे संसारियों के कार्य हैं। यदि यही कमजोरियाँ भगवान में भी पाई जावें तो फिर वे भगवान ही कैसे। वे वीतरागी समदर्शी कहाँ रहे ? तुम स्वयं ही तो भगवान को करुणा का सागर कहा करती हो। करुणा के सागर भला राक्षस कैसे बन सकते हैं? मारने को कैसे दौड़ सकते हैं? तुम अपने मन की छाया को भगवान पर क्यों थोपती हो ?

भगवान पार्श्वनाथ तो उपसर्ग करने वाले कमठ पर भी नाराज नहीं हुए थे और न ही रक्षा के विकल्प में उलझे धरणेन्द्र पर प्रसन्न ही हुए थे। वे राग-द्वेष से परे रहे, तभी पूर्णज्ञान प्राप्त कर सके। मैंने तो कोई कमठ जैसा उपसर्ग नहीं किया था, मुझे मारने को वे क्यों दौड़ेंगे ? यह सब तुम्हारा मानसिक भ्रम है। तुम्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

मैंने भगवान की बुराई की ही कब थी ? मैंने तो सिर्फ उपासना-पद्धति में आई विकृतियों की चर्चा की थी। यदि कुछ कठोर भी कहा था तो भगवान के लिए नहीं, उनके सही स्वरूप को न जानने वाले तथाकथित भक्तों (भिखारियों) के लिए ही कहा था। इसमें भगवान की निन्दा कहाँ से हो गई?

कपोलकल्पित चमत्कारों की बढ़ा-चढ़ाकर चर्चा करना भगवान का बहुमान नहीं, भक्ति नहीं, स्तुति नहीं; वरन् उनमें विद्यमान वीतरागता, सर्वज्ञता, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुणों का चिन्तवन, महिमा, बहुमान ही वास्तविक भक्ति है।"

उदास-सी रूपमती बोली — "अपनी गलती तो मानते नहीं, फिर वही बहकी-बहकी बातें करने लगे हो।"

जिसप्रकार असमय की वर्षा का कुछ भी उपयोग नहीं होता, उसीप्रकार असमय में दिया गया विवेक का उपदेश कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ।

रूपमती की असामान्य मन:स्थिति जान विवेक उसे मनोचिकित्सक को दिखाने की सोचने लगा और रूपमती ने जब यह देखा कि विवेक को रास्ते पर लाने के सब उपाय असफल हो रहे हैं, तो उसने उन्हें अपने मंत्र-तंत्रवादी गुरु के पास ले जाने की सोची।

एक दूसरे को रोगी जानने वाले वे दोनों अपनी-अपनी चिन्ता को छोड़ दूसरे को सुधारने के उपायों में चिन्तामग्न हो गए। ●

६

यह कैसी विचित्र विडम्बना है कि ज्ञानी तो अज्ञानी को पागल समझता ही है, पर अज्ञानी भी ज्ञानी को कम पागल नहीं समझता। विवेककुमार को तो रूपमती के धार्मिक पागलपन को दूर करने की चिन्ता थी ही, पर रूपमती को भी विवेककुमार को रास्ते पर लाने की कम चिन्ता न थी।

चिन्तामग्न रूपमती ने सोचा कि विवेक को गुरुदेव के पास ले जाने के पहिले एक बार उनके पास अकेले ही जाना चाहिए और उन्हें सारी बात बता देनी चाहिए। उसके बाद उनके आदेशानुसार विवेक को उनके पास ले जाना ठीक रहेगा। गुरुदेव के समक्ष समस्त स्थिति स्पष्ट किए बिना विवेक को उनके पास ले जाने पर कुछ अनर्थ भी हो सकता है; क्योंकि इनका क्या भरोसा ? उनके सामने भी कुछ न कहने लगें।

रूपमती जब उनके पास पहुँची तो वे अनेक भक्तों से घिरे बैठे थे। सब अपनी-अपनी व्यथा-कथा सुना रहे थे।

कोई कह रहा था — "महाराज जो मंत्र आपने बताया था, मैं उसका जाप बराबर एक माह से कर रहा हूँ, किन्तु मेरी पत्नी का दिमाग ठीक नहीं हुआ। उसका चिड़चिड़ापन उसी तरह कायम है। बात-बात पर बिगड़ पड़ती है। समझ में नहीं आता क्या करूँ ?"

गुरुदेव समझा रहे थे—"तूने विधि में कुछ-न-कुछ गड़बड़ी कर दी होगी। अन्यथा उसका स्वभाव ठीक हो ही जाना चाहिए था। वह वशीकरण मंत्र था, उससे तो अच्छे-अच्छे वश में आ जाते हैं। ऐसे-वैसे को तो मैं यह मंत्र बताता ही नहीं हूँ। तुझे बता दिया था, क्योंकि तू अपना आदमी है न। कहीं-न-कहीं कुछ गड़बड़ी अवश्य है। अच्छा बता! तूने कैसे क्या किया था?"

"जैसे आपने बताया था, वैसे ही सब किया। सामने दीपक जलाकर रखा, अग्नि में बराबर धूप डालता रहा ··· ।"

बीच में ही गुरुदेव बोले — "धूप डालते समय तर्जनी अंगुली दूर रखी थी या नहीं ?"

"आपने कहा ही कब था?"

यह कहने पर गुरुजी बिगड़ते हुए बोले — "कैसे नहीं कहा था और यदि नहीं कह पाया था तो क्या हो गया, तुम्हें स्वयं समझना चाहिए था। स्वयं गड़बड़ी करते हैं, सावधानी नहीं रखते और दोष मंत्र को देते हैं।"

डाट सुनकर वह चुप हो गया; पर दूसरा बोला — "महाराज! मैंने तो तर्जनी अंगुली दूर रखी थी, आपकी बताई सब बातें पूरी-पूरी पालन की हैं, पर"

उसकी बात समाप्त भी न हो पाई कि गुरुदेव आपे से बाहर हो गए। लाल-पीले होते हुए कहने लगे — "तुम मंत्र पर श्रद्धा नहीं रखोगे तो फल कैसे मिलेगा ? फल तो श्रद्धालु को ही मिलता है। निकल जाओ यहाँ से, ऐसे अश्रद्धालुओं से मैं बात नहीं करना चाहता।"

वे दोनों हाथ जोड़कर बोले — "महाराज! यदि श्रद्धा न होती तो फिर आपके पास आते ही क्यों ?"

गुरुजी गरज कर बोले — "तो फिर अविश्वास की बात क्यों करते हो? यह क्यों नहीं कहते कि मंत्र से आराम हुआ है, काम हुआ है।"

"काम हुआ ही नहीं तो कैसे कहें?" - ऐसा कहने पर गुरुजी समझाते हुए बोले — "भाई इसी का नाम तो अश्रद्धा है और अश्रद्धा — अविश्वास कहते किसे हैं? तुम सबके सामने कह रहे हो कि मंत्र से काम नहीं हुआ, आराम नहीं हुआ, इससे अधिक अश्रद्धा और क्या होगी ? चाहे काम हो, चाहे काम न हो; मंत्र के प्रति श्रद्धा ही व्यक्त करनी चाहिए; तभी काम होता है। अपनी अश्रद्धा का दोष मंत्र के नाम पर मँढ़ते हो। अब कभी भी अश्रद्धा की बात न करना" — कहते हुए गुरुदेव तीसरे की ओर मुड़ गए और उससे उसकी बात पूछने लगे।

उसने कहा — "महाराज! आपने जब से तावीज़ बाँधा, तभी से उसका स्वास्थ्य सुधार पर है। आपके मंत्र से···।"

उसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि महाराज सबको सम्बोधित करते हुए बोलने लगे — "देखो! श्रद्धालुओं को लाभ मिलता ही है। इसे मिला न? एक को मिला और दूसरे को नहीं मिला। यदि मंत्र या तावीज़ में कोई कमी होती तो दोनों को ही लाभ नहीं मिलना चाहिए था; पर जिसे श्रद्धा थी उसे मिला, जिसे श्रद्धा नहीं थी उसे नहीं मिला। अतः लाभ लेना हो तो सबको श्रद्धालु बनना चाहिए।"

चौथा बोला — "महाराज! यह बाहर तो कह रहा था कि हमें कोई लाभ नहीं हो रहा, महाराज को उलाहना देने आये हैं। अब यहाँ ···।"

महाराज भृकुटी चढ़ाते हुए बोले — "भड़काइये नहीं। उसे अपनी बात कहने दीजिए। क्यों तुझे लाभ मिला है न ?"

वह हाथ जोड़ते हुए बोला — "महाराज! मैं अश्रद्धालु नहीं बनना चाहता, अन्यथा इनके समान मेरा भी तो नुकसान हो सकता है। यदि श्रद्धा रखूँगा तो आज नहीं तो कल तो लाभ मिलेगा। अभी-अभी आपने फरमाया था कि अश्रद्धालु को लाभ नहीं मिलता। हम अश्रद्धा क्यों रखें ? हमें तो लाभ मिले चाहे न मिले, हम तो यही कहेंगे कि लाभ मिला। और एक बात यह भी तो है कि यदि हमें लाभ नहीं मिला तो उसमें आपका क्या दोष ? हमारे भाग्य का ही दोष है। आप तो सबका भला ही चाहते हैं, करते हैं; आपका उसमें क्या दोष ? आपका कोई स्वार्थ तो है नहीं ? आप कुछ लेते-देते तो हैं नहीं? यदि चढ़ावा चढ़वाते हैं तो वह आपके घर में थोड़े ही जाता है ?

लोग कहते हैं कि आपके घर में नहीं जाता तो और कहाँ जाता है ? पर उन्हें क्या पता? वे कुछ समझते तो हैं नहीं। आपका घर ही कहाँ है जो आपके घर में जाएगा ?

ये मोटरगाड़ियाँ, ये ताम-झाम आपके थोड़े ही हैं, आप तो साधु-महात्मा ठहरे। आपको इनसे क्या लेना-देना ? यदि यह सब आपकी आज्ञानुसार चलता है, इच्छानुसार चलता है, आपकी मर्जी बिना इसका पत्ता भी नहीं हिलता, तो क्या हो गया ? पत्ता तो भगवान की मर्जी बिना भी नहीं हिलता, तो क्या सब

भगवान का हो गया ? भगवान का हो गया तो आपका भी होगा, पर जब भगवान का ही नहीं हुआ तो आपका कैसे होगा ? लोगों की ज़बान का कुछ ठिकाना तो है नहीं। बकते हैं। कहते हैं महाराज ने लाखों का वारा-न्यारा कर दिया, पर किसके लिए, क्या अपने लिए किया है ? अपने लिए तो सिर्फ दो रोटियाँ हैं। यह सब धर्म के लिए ही तो है।

महाराज आपको दिया जाएगा कहाँ ? कोई आप थोड़े ही खा जावेंगे। यदि आप इसकी व्यवस्था जमा देते हैं तो धर्म के लिए ही तो यह सब।

माना कि ये सब काम गृहस्थ के हैं, साधुओं को इससे क्या प्रयोजन ? पर जब गृहस्थ न करें तो साधुओं को करना पड़ता है। यदि हम ही कर लेते तो फिर आपको क्या? आनन्द से आत्मा का ध्यान करते, परमात्मा का स्मरण करते, इस चक्कर में क्यों पड़ते? पर हम गृहस्थ तो कुछ करते नहीं, इसलिए आपको करने पड़ते हैं।

आपने तो अपना घरबार आत्महित के लिए छोड़ा था। इस झंझट में पड़ने के लिए थोड़े ही छोड़ा था। पर क्या करें, जगत का दु:ख आपसे न देखा गया, तभी तो इसमें उलझ पड़े।''

उसकी स्तुति सुनकर महाराज अत्यन्त संतुष्ट होते हुए बोले —

''परोपकाराय सतां विभूतयः - अर्थात् सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं।''

रूपमती सबकी बात ध्यान से सुन रही थी। वह अपनी बात कहे इसका अवसर ही उसे नहीं मिल पा रहा था। वह उत्सुकता से उस क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी कि जब उसे अपनी व्यथा सुनाने का अवसर प्राप्त हो।

उधर जब विवेक अपने कमरे पर लौटा तो उसने कमरे का ताला लगा पाया। कुछ समय यहाँ-वहाँ देखकर रूपमती की प्रतीक्षा की। पर जब रूपमती नहीं आई तो उसने उसे तलाश करना आरम्भ किया तो पता चला कि रूपमती पास ही में ठहरे महात्माजी के दर्शनार्थ गई है। वह भी वहीं जा पहुँचा और चुपचाप बैठ गया। उसने समस्त चर्चा को बहुत ध्यान से सुना और मन ही मन इस पोपलीला पर आन्दोलित हो उठा।

वह बहुत कुछ कहना चाहता था, पर कुछ भी नहीं कह पा रहा था; क्योंकि कल की घटना अभी ताजी थी। वह कुछ बोलकर रूपमती की मानसिक स्थिति को और भी अधिक असन्तुलित नहीं करना चाहता था। वह अच्छी तरह जान चुका था कि उसकी तर्कसंगत बातों का और लोगों पर चाहे जैसा प्रभाव हो, पर रूपमती को कोई लाभ पहुँचने वाला नहीं है।

यह सब सोचकर वह चुप ही रहा, पर वह और अधिक वहाँ न बैठ सका। चुपचाप उठकर अपने कमरे की ओर चल दिया।

रूपमती ने देखा कि अब कुछ अवसर है तो उसने अपनी बात आरंभ की। वह अपनी व्यथा-कथा दिल खोलकर सुनाना चाहती थी। पर गुरुदेव ने देखा कि यहाँ कुछ अश्रद्धालु लोग भी बैठे हैं और यह केस उनके सामने सुनने से मामला जमाने में कुछ असुविधा हो सकती है। अतः बीच में ही टोकते हुए अगले दिन पति सहित आने का आदेश देकर चुप कर दिया।

दरबार समाप्त हो चुका था। गुरुदेव अपनी किचिन-कैबिनेट के साथ भीतर चले गए और भक्तगण बिखर गए।

रूपमती इस आशा के साथ धर्मशाला को चल दी कि कल सब-कुछ ठीक हो जाएगा। गुरुदेव ने समय दे ही दिया है। अब बस बात करने की देर है, कुछ न कुछ रास्ता निकलेगा ही। **जहाँ चाह वहाँ राह होती ही है।**

वह कुछ अतिरिक्त प्रसन्नता के साथ कमरे में पहुँची तो विवेक को प्रतीक्षा करते विषण्ण-मुख खड़े पाया।

चिन्तामग्न विवेक सोच रहा था कि इस नए संकट से रूपमती को कैसे उबारा जाए? वह आया तो था रूपमती को धर्म के नाम पर चलने वाली धोखा-धड़ी से उबारने के लिए, पर यहाँ उसे लेने के देने पड़ रहे थे।

दिन भर दोनों दैनिकचर्या में उलझे रहे, परस्पर कोई विशेष चर्चा नहीं हुई। संध्या को दोनों अपनी-अपनी बात एक-दूसरे के सामने रखने के उपायों पर विचार करते हुए शयन-कक्ष में प्रविष्ट हुए।

७

अंधश्रद्धा, तर्क स्वीकार नहीं करती। यही कारण है कि अंधश्रद्धालु को सही बात समझा पाना असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। यदि वह तर्कसंगत बात को स्वीकार करने लगे तो फिर अंधश्रद्धालु ही क्यों रहे? अंधश्रद्धालु को हर तर्क कुतर्क दिखाई देता है। इष्ट की आशा और अनिष्ट की आशंका उसे सदा भयाक्रान्त रखती है। भयाक्रान्त व्यक्ति की विचार-शक्ति क्षीण हो जाती है। उसकी इसी कमजोरी का लाभ कुछ धूर्त लोग सदा से ही उठाते आए हैं और उठाते रहेंगे।

रूपमती अपने पति विवेक के विवेक को जागृत करने के उपाय जानने के लिए जिन तथाकथित महात्मा के पास गई थी, उनकी कोई भी बात तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरी। उनके बताए उपचारों से किसी को कोई लाभ नहीं हुआ था। यह उनके सामने हुई चर्चा से पूरी तरह स्पष्ट हो चुका था, फिर भी उसकी श्रद्धा महात्माजी के प्रति कम नहीं हुई।

यद्यपि कल महात्माजी ने उसे कोई उपाय नहीं बताया था, उसकी बात भी ढंग से नहीं सुनी थी, तथापि कल पति सहित आने के आदेश से ही मानो वह कृतकृत्य हो गई थी। उसका विश्वास था कि जब महात्माजी ने समय दे दिया है तो काम हुआ ही समझो। पर उसके सामने एक समस्या यह थी कि पति को उनके पास ले कैसे जाए ? न मालूम वे जायेंगे या नहीं? क्योंकि वह अच्छी तरह जानती थी कि वे इसप्रकार के साधु-महात्माओं में कतई विश्वास नहीं रखते। उसे तो यह भी आशंका थी कि जब वह विवेक से महात्माजी के पास जाने की बात कहेगी तो वे नाराज होंगे। अतः वह यह सोच रही थी कि विवेक के सामने अपनी बात कैसे रखे।

तथाकथित गुरुओं के गुरुडम् का पर्दाफाश करना उतना कठिन नहीं, जितना उनके चंगुल में फंसे हुए अंधश्रद्धालु इष्ट बन्धुओं का उबारना। दूर

के शत्रु को मारना जितना आसान है, उतना आसान गृह-प्रविष्ट को नहीं; जो अपने में अनुप्रविष्ट हो, उसका तो कहना ही क्या! विवेक के सामने आज तथाकथित गुरुओं का पर्दाफाश करने की समस्या न थी, ऐसे गुरुओं का पर्दाफाश तो वह कई बार कर चुका था; किन्तु आज तो समस्या थी उनके चंगुल से अपनी पत्नी को उबारने की।

तथाकथित महात्माओं की संयमित समालोचना भी स्वयं ही असन्तुलित रूपमती के सन्तुलन को और भी बिगाड़ सकती थी। रूपमती को ही क्या — जो भी लोग उनमें श्रद्धा रखते हैं, उनके चंगुल में हैं, सभी को उनकी आलोचना उत्तेजित कर सकती है; अत: विवेकी का मार्ग आलोचना का मार्ग नहीं है। आलोचना का मार्ग निषेधात्मक (निगेटिव) है। उससे लाभ के स्थान पर हानि की संभावना अधिक रहती है। अत: विवेकी को रचनात्मक मार्ग अपनाना चाहिए।

यह सोचकर विवेक ने निर्णय लिया कि रूपमती के सामने वह किसी भी तथाकथित महात्मा की आलोचना नहीं करेगा। उसे सच्चे गुरु का स्वरूप शास्त्राधार से समझाने का प्रयत्न करेगा; क्योंकि इसप्रकार के लोगों पर समर्थ तर्क और प्रबल युक्तियों का तो कोई असर नहीं पड़ता, परन्तु उनकी श्रद्धा देव और गुरु के समान ही शास्त्रों पर भी रहती है; अत: यदि उन्हें शास्त्रों के आधार पर देव और गुरु का सही स्वरूप समझाया जाए तो अवश्य ही वे लोग सन्मार्ग पर आ सकते हैं।

एक बात यह भी है कि अपनी बात कहने के पूर्व उनकी बात भी शान्ति से और धैर्यपूर्वक सुननी चाहिए, जिससे उनके भावों का पता चले; उन्हें सान्त्वना प्राप्त हो एवं साथ ही वे उत्साहित होकर आपकी बात सुनने को भी तैयार रहें। उन तक अपनी बात पहुँचाने के लिए विवेकी वक्ता को सहिष्णु अवश्य बनना चाहिए।

विवेक के हृदय में उक्त विचार-मंथन चल ही रहा था कि उत्साहित रूपमती ने महात्माजी के पास चलने की बात कही और कहा —

"उनके पास भक्तों की सदा ही भीड़ लगी रहती है। उन्हें लोग घेरे रहते हैं। लोगों को उनसे मिलने का समय ही नहीं मिल पाता। बहुत कठिनाई से

मिलना हो पाता है। उनकी कृपा पाना तो और भी कठिन है। पर जिस पर कृपा हो गई तो समझ लेना वह निहाल हो गया। वे बहुत बड़े विद्वान हैं। उन्हें मंत्र-तंत्र-जंत्र सभी आते हैं। वे घट-घट की जानते हैं। गंडा-तावीज सभी देते हैं। उन जैसा महात्मा कभी न हुआ है, न होगा। उनके पास क्या नहीं है? सभी तो है — मोटरगाड़ी, शिष्य-परिवार। पर सबके बीच रहकर भी सबसे भिन्न, जुदे, निराले। न किसी से कुछ लेना, न कुछ देना। कोई अपने आप भेंट-पूजा चढ़ा जाए तो चढ़ा जाए, उसे भी वे छूते नहीं हैं; उनके साथी चेले ही संभालते हैं। दुखियों के महाभाग्य से ही ऐसे महात्माओं का जन्म होता है। सबका दुःख मेट देते हैं, कोई उनके दरवाजे से निराश नहीं जाता। कृपा करके उन्होंने मुझे भी समय दे दिया है। आपको भी बुलाया है। कल चलना। अपनी आँखों से उनकी महिमा देखना। देखते ही रह जाओगे। बड़े-बड़े लोग उनके चरणों पर लोटते हैं। लाइन लगी रहती है, लाइन।

कहते हैं कलयुग में भगवान नहीं होते हैं, पर उन्हें तो साक्षात् भगवान ही समझो। उनके यहाँ मेला लगा रहता है, मेला। सुबह से शाम तक सैकड़ों दुखियों की बातें सुनते हैं। सबका उपचार करते हैं, उपाय बताते हैं। उनका जन्म तो मानो परोपकार के लिए ही हुआ है।

मैं आज सब अपनी आँखों से देख आई हूँ। कल आप भी चलना। जरा जल्दी उठना। फिर भीड़ हो जाएगी तो अपनी बात भी ढंग से नहीं कर पावेंगे। सबके सामने क्या कहें और क्या सुनें? शायद इसीलिए महाराज ने कल जल्दी बुलाया है। भीड़ की वजह से ही आज ढंग से बात नहीं की। लोग ऊल-जलूल बकने लगते हैं।

एक कहने लगा — 'महाराज! आराम नहीं हुआ।'

महाराज ने वो अच्छी डाँट पिलाई कि नीची से ऊँची गरदन नहीं कर सका। उनका प्रभाव कोई कम थोड़े ही है। अच्छों-अच्छों की हिम्मत उनके सामने बोलने तक की नहीं पड़ती।''

रूपमती कहे जा रही थी और विवेक छाती पर हाथ रखे सुने जा रहा था। वह चाहता था कि इसके मन का पूरा गुबार निकल जावे, तब कोई बात

करना ठीक रहेगा; क्योंकि जबतक यह सब कुछ नहीं कह लेगी, तबतक इसका मन हलका नहीं होगा और इसकी यह शिकायत बनी ही रहेगी कि तुम तो मेरी कोई बात सुनते ही नहीं!

रूपमती और न जाने क्या-क्या बहुत देर तक कहती रही और विवेक सुनता रहा। अन्त में वह आग्रह करती हुई बोली — "तो चलोगे न ?"

"हाँ! हाँ!! चलूँगा" - विवेक ने टालते हुए से कहा और बोला —

"पर तुम जरा सोचो तो, योगियों को भीड़ से क्या प्रयोजन? योगी तो एकान्तप्रिय होते हैं। भीड़ तो भयाक्रांत भोगी चाहते हैं, निर्भय योगी नहीं। भोगी के अन्दर विषय-कषाय की अनन्त ज्वाला रहती है और योगियों के भीतर अनन्त अकषाय-शान्ति। जब एकान्त होता है तो सहज ही अन्तर प्रवेश होता है, वहाँ भोगी अनन्त विषय-कषाय की ज्वाला में जलता है, अत: वह एकान्त पसन्द नहीं करता। तथा योगी जब अंतर प्रविष्ट होता है तो शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है, अत: वह एकान्त पसन्द करता है।

भीड़ से घिरा रहना और मेला लगा रहना कोई महान साधुता की निशानी नहीं है। लाइन लगने और मिलने का समय न मिलने का तो सवाल ही नहीं है। साधु का किसी से एकान्त में मिलने का क्या प्रयोजन है? वे सबका भला चाहते हैं तो उन्हें सबको ही सुख का मार्ग बताना चाहिए। उपदेश कोई दवा तो है नहीं, जो व्यक्तिगत दी जाए।

मंत्र-तंत्रवाद साधुता की शोभा नहीं। मोटरगाड़ियों से साधुओं को क्या ? और इस बात में क्या दम है कि वे तो कुछ लेते नहीं, चढ़ावा तो उनके शिष्यगण संभालते हैं, उसमें उनका तो कुछ है नहीं। जब उनका नहीं तो उनके साथ क्यों ? उसकी साज-संभार क्यों ?

आज के जमाने में कमाने वाले व्यापारी के नाम कुछ नहीं मिलेगा। सब सम्पत्ति उसके बच्चों, औरत या अन्य लोगों के नाम मिलेगी। जैसे टैक्सों से बचने के लिए व्यापारी यह सब करता है, वस्तुत: अन्दर उसका मालिक — उसका नियामक स्वयं रहता है; क्या उसीप्रकार यह नहीं हुआ कि जगत की आलोचना से बचने के लिए यह सब शिष्यों का है, संस्था का है; पर उसके

नियामक स्वयं बने रहते हैं। किससे क्या लेना, किसको क्या देना; – यह सब उनकी इच्छानुसार ही होता है।

अपरिग्रहियों द्वारा परिग्रह का यह नियोजन कितना हास्यास्पद लगता है। **तपस्वी तो वही प्रशंसा के योग्य है जो विषयों की आशा से रहित हो, जिसके पास किसी प्रकार का आरम्भ परिग्रह न हो और जो सदा ज्ञान, ध्यान तथा तप में लीन रहता हो।** तपस्वियों को इन बाह्य आडम्बरों से क्या काम?''

विवेक की आलोचनात्मक बातें सुनकर रुआंसी-सी रूपमती बोली –

''तुम फिर अश्रद्धा की बातें करने लगे। तुम्हें पता नहीं, कल ही गुरुदेव ने बताया था कि अश्रद्धालु को लाभ नहीं होता। तुम अश्रद्धा रखोगे तो लाभ कैसे होगा? और तुम्हारा क्या भरोसा ? तुम वहाँ भी ऐसी ऊलजलूल बातें करने लगो। तुम मुझे विश्वास दिलाओ कि — वहाँ कुछ बोलोगे नहीं और पूरी श्रद्धा भी रखोगे गुरुदेव में।''

विवेक ने देखा कि रूपमती की मानसिक स्थिति फिर असंतुलित हो रही है; कहीं ऐसा न हो कि आज की रात भी यह ढंग से सो न सके। अत: स्वयं संभलते हुए बोला —

''हाँ! हाँ!! चलूँगा और वहाँ बोलूँगा भी नहीं; अब तो ठीक। जिसमें तुम खुश हो, मैं तो उसी में खुश हूँ; क्योंकि तुम्हारा दास जो ठहरा।''

अन्दर से प्रसन्न मुस्कराती हुई रूपमती आँखें तरेर कर बोली — ''बेकार की बातें मत करो, दासी तो मैं हूँ तुम्हारी, तुम तो मेरे राजा हो राजा।''

''जब तुम दासी हो तो मैं दास ही हुआ, क्योंकि दासी का पति दास ही हो सकता है, राजा नहीं। यदि मैं राजा हूँ तो फिर तुम दासी कैसे रह सकती हो? क्योंकि राजा की पत्नी तो रानी होती है, दासी नहीं।''

विवेक ने वातावरण को हल्का बनाने के लिहाज से ही यह सब कहा था; क्योंकि वह वातावरण की उत्तेजना समाप्त करना चाहता था।

वातावरण का तनाव खत्म होते ही वे राजा-रानी निद्रामग्न हो गए। ●

८

आशारूपी पिशाची से ग्रस्त प्राणी सदा कल्पना-लोक में विचरण करता रहता है, जीवन के ठोस धरातल पर उसके पैर नहीं टिकते। सामने खड़ी मौत भी उसके स्वप्नसंसार को भंग नहीं कर पाती है। आशारूपी डोरी से बंधा हुआ प्राणी सम्पूर्ण जीवन योंही निकाल देता है। सफलता की संभावना के अभाव में भी इसकी आशा भग्न नहीं होती। कहता है — आशा पर तो आसमान टिका है। यदि आशा समाप्त हो आए तो जीवन का रस समाप्त हो जाए। सुख और शान्ति की आशा की पूर्ति जीवन भर न होने पर भी आशा लगाए ही रहता है। जहाँ आशा की सफलता की क्षीण-सी भी रेखा दिखाई न दे, वहाँ भी निराश नहीं होता। रूपमती भी इस आशा से आश्वस्त थी कि अब तो विवेक ने गुरुदेव के पास चलना स्वीकार कर ही लिया है और वहाँ चुप रहना भी; अतः काम हुआ ही समझो।

प्रातःकाल जल्दी उठ और प्रातःकालीन क्रियाओं से जल्दी निपटकर वह विवेक को जगाती हुई बोली — "तुम तो ऐसे सो रहे हो कि जैसे घोड़े बेच कर सोए हो। उठो, देखो सूर्य उग आया है। जल्दी निपटो। पता नहीं! आज महात्माजी के पास चलना है और जल्दी चलना है, अन्यथा वहाँ भीड़ हो जावेगी और बात भी ढंग से नहीं हो पावेगी।"

अंगड़ाई लेते हुए विवेक बोला—"आज तो तुम अतिरिक्त उत्साहित दिखाई दे रही हो, क्या बात है, क्या कमी है तुम्हें; तो महात्माजी पूरी कर देंगे।"

"तुम क्या समझो! तुम यही समझते होते तो क्या बात थी? 'यदि ऐसे होते कंत, काहे को जाते अंत'। नारी हृदय की गहराई को आप नहीं समझ सकते। मैं कोई पागल नहीं हूँ, जो इन तीर्थों की वंदना, महात्माओं की आराधना वैसे ही करती फिरती हूँ। तुम पूछते हो क्या कमी है? पर मैं कहती हूँ क्या कमी नहीं है? एक तुम, जो अपने में ही मस्त हो। अपनी शादी को

आठ वर्ष होने आए हैं और ··· '' — कहते-कहते रूपमती की आँखों में आँसू आ गए, गला रुंध गया। इसके आगे कुछ न कह सकी। कुछ क्या न कह सकी, बिना कहे ही सब-कुछ कह दिया। क्या बाकी रह गया? यद्यपि वाणी से तो बहुत कम कहा था, पर आँसुओं से तो बहुत-कुछ कह दिया, रहा-सहा काम हिचकियों ने पूरा कर दिया।

भावों के सम्प्रेषण में आँसुओं जैसी सशक्त भाषा न आज तक विकसित हो सकी है, न कभी होगी। आँसू स्त्रियों की सबसे प्रबल भाषा और सबसे बड़ा हथियार है; विशेषकर पति को परास्त करने के लिए। आज तक जो कार्य बड़ों-बड़ों से न हुआ, वह स्त्रियों के आँसुओं ने कर दिखाया है। पुरुषों को परास्त करने, झुकाने, अपनी बात मनवाने में जितने सफल आँसू रहे हैं, उतना और कोई नहीं!

आँसू स्त्रियों के लिए वरदान हैं। उनके आने से, निकल जाने से लाभ ही होता है; स्वयं का दिल हलका हो जाता है और पति का भारी। उनके द्वारा पत्नी अपनी चिन्ता पति को ट्रांसफर कर देती है।

आँसू आखिर आँखों का पानी है। आँखों का आना, जाना, लगना, खुलना सभी एक क्रान्ति लाते हैं जीवन में। पानीदार व्यक्ति अपनी पत्नी की आँखों का पानी गिरते कैसे दे सकता है!

रूपमती की आँखों में आँसू देखकर विवेक भी द्रवित हो उठा और शीघ्रता से शौचादि क्रिया से निवृत्त हो उसके साथ चलने को तैयार हो गया।

कैसी विचित्र विडम्बना है कि एक-सी ही स्थिति में एक आदमी अपने को दुःखी अनुभव करता है, दूसरा सुखी। जिस स्थिति में एक कोई कमी महसूस नहीं करता, दूसरा उसी स्थिति में अपने को दीन-हीन अनुभव करता है। यह सब वस्तु का नहीं, दृष्टि का फेर है।

एक आधा भरा गिलास हो तो उसे देखकर एक व्यक्ति यह कह सकता है कि वह आधा भरा है, पर दूसरा इसप्रकार भी कह सकता है कि वह आधा खाली है। कह ही नहीं, वे दोनों उसे भरा व खाली अनुभव भी कर सकते हैं। बात कहने की ही नहीं, अनुभव करने की है।

ज्ञान की दृष्टि से दोनों सत्य हैं; क्योंकि गिलास आधा भरा भी है और आधा खाली भी है। पर बात दृष्टि की है, एक की दृष्टि खाली गिलास पर है, दूसरे की भरे गिलास पर। जिसकी दृष्टि खाली गिलास पर है, वह अभाव अनुभव करता है; पर जिसकी दृष्टि भरे पर है, वह अभाव का नहीं सद्भाव का अनुभव करता है। अभाव का अनुभव करने वाला असन्तुष्ट और सद्भाव का अनुभव करने वाला संतुष्ट नजर आता है।

जहाँ रुचि होती है, दृष्टि वहाँ जाती है। जहाँ दृष्टि जाती है, वहाँ बल पड़ता है। बात बल पड़ने की है। एक का बल खाली पर है, दूसरे का भरे पर; अतः एक असन्तुष्ट है, दूसरा सन्तुष्ट।

एक कहता है आत्मा शुद्ध है, दूसरा कहता है अशुद्ध। बात बल देने की है। द्रव्यदृष्टि वाला शुद्ध पर बल देता है, पर्यायदृष्टि वाला अशुद्ध पर। ज्ञान दोनों को जानता है। शुद्ध पर बल देने वाले को शुद्धता प्राप्त होती है, अशुद्ध पर बल देने वाले के अशुद्धता हाथ लगती है।

वस्तु नहीं, मात्र दृष्टि बदलनी है। दृष्टि बदल जाएगी तो सृष्टि स्वयं बदल जाएगी।

सारा झगड़ा गलत बात पर बल देने का है। लम्बी उमर वाले को कोई यह भी कह सकता है कि तू बड़ा अभागा है, तेरे सामने तेरे देखते-देखते तेरी पत्नी, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि सभी मर जावेंगे। इसी बात को इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि तू बड़ा भाग्यवान है, तेरी उम्र तेरे घर में सबसे बड़ी है।

बात मौत की नहीं, जीवन की करनी चाहिए। पर हम जीवन की नहीं, मौत की चर्चा अधिक करते हैं। लोग कहते हैं — हमारा मरण सुधार देना, ऐसा न हो कि हमारा मरण बिगड़ जाए। यह कोई नहीं कहता कि मुझे जीवन सुधारना है। अरे भाई! हमें मरण नहीं, जीवन सुधारना है। जिसका जीवन सुधर जाएगा, उसका मरण भी सुधर जाएगा। जिसका जीवन नहीं सुधरा, उसका मरण कैसे सुधर सकता है। आखिर मरण दो जीवनों की संधि ही तो है। जब जीवन ठीक है तो मरण भी ठीक होगा ही। प्रत्येक अपना जीवन जानना चाहता है, दूसरों का मरण नहीं। क्यों न उसे उसका जीवन बताया जाए? क्यों व्यर्थ

में दूसरों का मरण बताकर उसे आकुलित किया जाए। बात मात्र बल देने की है। कोई जीवन पर बल देता है, कोई मरण पर। जीवन पर बल देने वाला जिन्दादिल होता है और मरण पर बल देने वाला अर्द्धमृतक-सम।

विवेक, जो प्राप्त था, उसी में संतुष्ट था; पर रूपमती असन्तुष्ट; क्योंकि उसकी दृष्टि उस पर थी जो उसे प्राप्त न था। उसकी दृष्टि अभाव पर थी। उसके दु:ख का कारण वस्तु का अभाव नहीं, अभाव पर उसकी दृष्टि का होना था, उस पर उसका बल पड़ने का था। उसका दु:ख दूर करने का उपाय उसकी दृष्टि बदलना था, वस्तु लाना नहीं। **दृष्टि का सम्यक् होना ही सुख का कारण है और दृष्टि का मिथ्या होना ही अनन्त दु:खों का घर है।**

यही कारण है कि विवेक उसकी दृष्टि बदलना चाहता था, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि संयोगों के जुटाने से सुख नहीं मिलता; किन्तु संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभावोन्मुख करने से ही सत्य, सुख व सन्तोष की प्राप्ति होती है। स्वभावदृष्टिवन्त ही वस्तुत: सुखी होते हैं।

जब वे दोनों महात्माजी के पास पहुँचे तो महात्माजी अपनी भक्त-मण्डली से किसी गम्भीर विचार-विमर्श में व्यस्त थे। वातावरण में एक विचित्र प्रकार का तनाव और गम्भीरता थी। जैसी गम्भीरता और तनाव युद्धकाल में एक सैनिक छावनी में देखा जाता है, कुछ वैसी ही वातावरण वहाँ का था; मानो सेनापतियों और जनरलों की मण्डली कोई चक्रव्यूह की संरचना में व्यस्त हो।

उन्हें एकदम उनके कमरे से बहुत दूर रोक दिया गया। उनसे पूछताछ की गई और उसकी सूचना भीतर भेजी गई। लगभग आधा घंटे बाद उनका बुलावा आया और वे दोनों दम्पति स्वामीजी की सेवा में हाजिर हुए।

उनके नमस्कार का आशीर्वादात्मक उत्तर देते हुए स्वामीजी रूपमती की ओर देखते हुए बोले — "कहो क्या बात है? कल तुम क्या कहना चाहती थीं? तुम्हें क्या तकलीफ है? जल्दी कहो — अन्यथा लोगों की भीड़ हो जावेगी और भी अनेक काम निबटाने हैं।"

घबड़ाते हुए रूपमती बोली — "महाराज! महाराज!! ये मेरे ···"

महाराज बीच में ही टोकते हुए बोले — "जानता हूँ कि ये तुम्हारे पति हैं।"

"ए महाराज! आप कैसे जानते हैं? मैंने बताया नहीं, पहिले कभी परिचय भी हुआ नहीं। आप तो · · ।"

महाराज बोले — "ठीक है, ठीक है; इसमें क्या ? क्या हम बिना बताए इतना भी नहीं जान सकते ? यदि नहीं जान पायें तो हममें और तुममें अन्तर ही क्या रहा? आगे बोलो।"

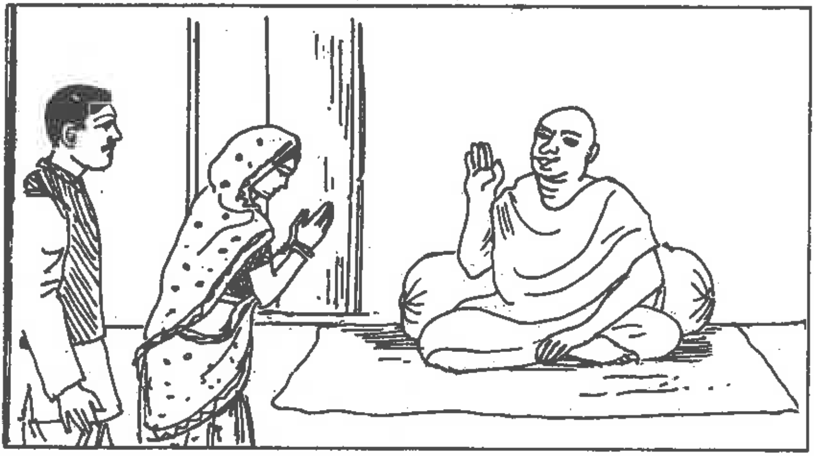

पुलकायमान होती हुई रूपमती कहने लगी—"हमारी शादी हुए आठ · · ."

उसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि महाराज बोल उठे — "आठ वर्ष हो गए हैं और अभी तक कोई सन्तान नहीं हुई। यही बात है न?"

महाराज का इतना कहना था कि रूपमती कृतकृत्य हो गई। महाराज ने उसकी बातें बिना कहे ही जान ली थीं। महाराज की महानता का इससे बड़ा सबूत उसे और क्या चाहिए था? पर विवेक सब बातें वीतराग भाव से सुन रहा था। महाराज की महिमा का उसके चेहरे पर कोई विस्मयात्मक प्रभाव नहीं था। रूपमती को यह ठीक नहीं लग रहा था, पर वह कर भी क्या सकती थी?

महाराज की ओर हाथ जोड़ती हुई वह बोली – "आपसे क्या कहना ? आप तो घट-घट की जानते हैं। हमें तो बस आपका आशीर्वाद चाहिए।"

महाराज हाथ उठाकर आशीर्वादात्मक मुद्रा में बोले — "चिन्ता मत करो।

तुम्हारी कामना अवश्य पूरी होगी, यदि तुम श्रद्धा रखोगे और हम जैसा बताएँ वैसा करते जावोगे तो; क्योंकि श्रद्धा बिना दुनिया में कुछ भी सम्भव नहीं है और श्रद्धालु के कुछ भी असम्भव नहीं।"

श्रद्धा वाली बात सुनते ही रूपमती सशंक हो उठी। उसके चेहरे पर आई समस्त प्रसन्नता गायब हो गई और वह उदासी भरे स्वर में बोली—

"महाराज मेरी मूल समस्या तो यही है। इनमें धर्म और धर्मात्माओं के प्रति श्रद्धा होती तो आज मुझे यह दिन क्यों देखना पड़ता? मुझे सबसे बड़ दुःख तो यही है कि इन्हें किसी पर कुछ विश्वास ही नहीं है। चमत्कारों क इन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। सब ढोंग समझते हैं। न इन्हें चमत्कार तीर्थों पर भरोसा है और न चमत्कारी महात्माओं पर।

मेरा सुख-दुःख तो इनके साथ बंधा है। धन-पुत्रादि जो कुछ भी प्राप्त होगा, तो वह हम दोनों को एक साथ ही तो प्राप्त होगा, अलग-अलग तो प्राप्त होने से रहा। भारतीय पति-पत्नी तो मिलकर एक इकाई होते हैं। उनका हानि-लाभ तो सम्मिलित ही होता है। यदि मैं कितनी भी श्रद्धा रखूँ पर ये नहीं रखें तो फिर कार्य-सिद्धि कैसे होगी?

यह बात आपने कल भी कही थी कि लाभ श्रद्धालुओं को ही होगा। और यह बात सत्य भी तो है। इनकी अश्रद्धा के कारण ही मेरा सारा धर्म-कर्म बेकार जा रहा है।

मेरी मूल समस्या तो यही है कि ये आस्तिक कैसे बनें? इनकी श्रद्धा आप जैसे महात्माओं में कैसे जागे? और बातें तो बाद की हैं; क्योंकि यह हो गया तो फिर सब-कुछ हो ही जाएगा। अतः मेरी पहली मनोकामना तो इनको श्रद्धालु बनाने की ही है।

देखिए न महाराज! आपने मेरे मन की बातें भी जान लीं, फिर भी इनको कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वैसे ही गुमसुम बैठे हैं। वैसे हैं बहुत अच्छे। मेरी सब बातें मान लेते हैं। इनकी इच्छा आपके पास आने की भी नहीं थी, पर मेरे कहने

से चले आए। आप कुछ ऐसा कीजिए महाराज कि इनकी बुद्धि ··· ।"

अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में महाराज बोले — "शान्त रहो बेटी! शान्त!! सब-कुछ ठीक हो जाएगा। इसमें कुछ समय अवश्य लगेगा, खर्चा भी करना पड़ेगा। पर बाद में जब सब ठीक हो जावे तब, पहिले नहीं।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि इनमें श्रद्धा जगे बिना तुम खर्चा भी कितना कर सकती हो?

घबड़ाओ नहीं। तुम तीन दिन बाद इसी समय इनको लेकर हमारे पास आना। सब-कुछ ठीक हो जावेगा। इन तीन दिनों में हमें साधना करनी होगी तेरे लिए बेटी! साधना के बिना यह महान कार्य संभव नहीं। काम बड़ा है, कठिनाई का भी है; पर तेरे लिए हम सब करेंगे। अवश्य करेंगे। आज जावो।

हाँ, रुको! इस मन्त्र को ले जावो। इसका जाप अवश्य करना तुम, लगातार प्रतिदिन तीनों टाइम एक-एक घंटा।"

ऐसा कहकर महात्माजी अन्तर्मग्न हो गये और वे दोनों वहाँ की ओर चल दिये, जहाँ वे ठहरे थे।

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डाक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डाक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ११४

१

मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है — यश, नाम। मनुष्य और सब-कुछ छोड़ सकता है, पर यश का लोभ छोड़ना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। घर, स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, यहाँ तक कि शरीर के वस्त्र भी त्याग देता है धर्म के नाम पर; परन्तु यश की वृद्धि का लोभ उसके बाद भी उसका पीछा नहीं छोड़ता।

यदि गृहस्थ-जीवन में वह बड़ा गृहस्थ, बड़ा सेठ, बड़ा पण्डित, बड़ा नेता, बड़ा समाज-सुधारक बनना चाहता है तो साधु बनने पर वह बड़ा महात्मा बनने का लोभ नहीं छोड़ पाता। उपाधियाँ वहाँ भी लगी रहती हैं, उनके टाइटिल भले ही बदल जावें।

बड़प्पन का भाव मान का ही दूसरा नाम है। यदि मान न हो तो मनुष्य को यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता, पर मान के खातिर वह क्या नहीं करता छल-कपट करता है, छल-कपट करके अपनी सिद्धि करना चाहता है। जब उसमें कोई बाधक बनता है तो उस पर क्रोध करता है। जिन विषय-कषायों को छोड़ने के लिए वह घरबार छोड़ कर साधु बनता है — यश के लोभ के चक्कर में उन्हीं क्रोध, मान, माया आदि के चक्कर में पड़ जाता है। तभी तो लोभ को पाप का बाप कहा जाता है।

महात्माजी भी बड़े महात्मा बनने के चक्कर में इन सब झंझटों में पड़ गए। रूपमती तो अपनी समस्या महात्माजी पर छोड़कर प्रसन्नवदन घर चली गई। विवेक भी अपने कलेजे को थामे उसके उसके पीछे-पीछे चला गया, पर महात्माजी को रात में नींद नहीं आई।

वे सोचने लगे जबतक इसके पति को प्रभावित नहीं किया जा सकेगा, तबतक काम नहीं बनेगा। दिखता तो सम्पन्न है, यदि प्रभाव में आ गया तो मेरे नाम पर संस्थापित आश्रम के विस्तार में इससे बहुत बड़ा सहयोग मिल सकता है।

यद्यपि इसको प्रभावित करने के लिए कुछ-न-कुछ करना होगा, तथापि इसके द्वारा जो धर्म प्रचार होगा, उससे मेरा नाम चारों ओर फैल जाएगा।

यदि थोड़ा-बहुत छल-कपट मुझे करना भी पड़े तो वह धर्म के लिए ही तो होगा। तीन दिन का समय मिल गया है। इन दिनों का सदुपयोग करके किसी प्रकार उसके गाँव का पता लगा कर इसकी दो-तीन पीढ़ियों का परिचय प्राप्त करना चाहिए, तभी इसको प्रभावित किया जा सकता है। वहाँ मेरा जाना तो सम्भव है नहीं; अत: किसी विश्वस्त व्यक्ति को वहाँ भेजकर सब जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

यहाँ महात्माजी चिन्तामग्न हो रहे थे, पर वहाँ रूपमती तो निश्चिन्त हो सो गयी थी; किन्तु विवेक अवश्य नहीं सो पा रहा था। वह सोच रहा था कि अब बात बहुत आगे बढ़ती जा रही है। समझ में नहीं आता कि इन महात्माजी के प्रभाव से रूपमती को कैसे उबारा जाए?

विवेक की परेशानी महात्माजी के असंगत बातों को तर्क की कसौटी पर कस कर अनर्गल साबित करने की नहीं, बल्कि यह थी कि किस विधि से यह काम सम्पन्न किया जाए, जिससे रूपमती का श्रद्धालु चित्त आहत न हो और सत्य उसकी समझ में आ जाए।

नारी सहज श्रद्धामयी भावना-प्रधान प्राणी है। उसे भावना के स्तर पर प्रभावित करना होगा। सोचते-सोचते एक सूत्र उसके हाथ लग ही गया। क्यों न वही मार्ग अपनाया जाए जो महात्माजी भोले भक्तों को प्रभावित करने के लिए अपनाते हैं? वे मानव-मनोविज्ञान को अच्छी तरह जानते हैं और अपनी बात को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं कि गलत बात भी सत्य-सी प्रतीत होती है। जब वे अपने प्रस्तुतीकरण के इस अनोखे ढंग से असत्य बात भी गले उतार देते हैं तो मैं क्या अपनी सत्य बात भी नहीं समझा पाऊँगा?

दूसरों के हृदय तक अपनी बात पहुँचाने में प्रस्तुतीकरण का एक अपना अलग महत्त्व है। गलत प्रस्तुतीकरण सत्य बात को भी विकृत कर देता है। अत: वस्तु की सत्यता के समान ही प्रस्तुतीकरण का महत्त्व भी कम नहीं है।

दूसरों के अविदित रहस्यों को प्रकट कर जिसप्रकार वे लोगों को प्रभावित करते हैं; मैं भी उसी विधि से उनके अज्ञान एवं ज्ञान के प्रदर्शन को संयमित एवं अनुत्तेजित रहकर रूपमती के समक्ष प्रकट करने का यत्न करूँगा। उसका बौद्धिक संतुलन बिगड़ने न पावे, इसके लिए मुझे भी अपने संतुलन को पूर्णरूप से बनाए रखना होगा।

इसप्रकार विचार करते हुए विवेक को स्वयं पता नहीं चला कि कब उसकी नींद लग गई।

जब सुबह उसकी नींद खुली तो सूर्य उग चुका था। मंदिर में घंटे बजने की आवाज आ रही थी। उसकी पत्नी रूपमती प्रसन्नचित्त गुनगुनाती हुई नाश्ता तैयार कर रही थी। उसकी गुनगुनाहट में उसकी आन्तरिक प्रसन्नता स्पष्ट व्यक्त हो रही थी। आज वह काफी निश्चिन्त एवं सजीव नजर आ रही थी। बहुत दिनों बाद आज वह एकदम स्वस्थ थी। कोई ऐसी-वैसी बात कहकर विवेक उसकी प्रसन्नता में विघ्न नहीं डालना चाहता था।

अत: उसने उसकी प्रसन्नता को और बल देते हुए कहा —

"आज क्या माल-मसाला बन रहा है, इतनी जल्दी?"

"खाकर देखो।"

"खाकर क्या देखें, तुम्हें देखकर ही तबीयत खुश हो गई है।"

"क्यों? क्या मुझे कभी देखा नहीं था?"

"देखा तो कई बार, पर इतना प्रसन्न बहुत कम।"

नाश्ता परोसते हुए रूपमती बोली — "बातें मत बनाओ, लो बैठो। चखो तो कैसा बना है?"

नाश्ते का कोर मुँह में लेते हुए विवेक ने कहा — "कमाल कर दिया आज तो तुमने, इतना अच्छा ··· ।"

"बस-बस, रहने दो।"

"क्यों रहने दूँ, इतना अच्छा नाश्ता तो तुमने उस दिन कराया था, जिस दिन मैं सर्वप्रथम तुम्हें लेने गया था तुम्हारे पीहर।"

"पीहर की क्या बात करते हो? वहाँ तो हमेशा ही ऐसा नाश्ता बनता है।"

"अच्छा तो चलो समेटो बिस्तर, बहुत दिन रह लिये यहाँ। अब दो-चार दिन तुम्हारे पीहर ही रहेंगे। बहुत दिनों से गए भी नहीं।"

पीहर चलने की बात सुनकर रूपमती अत्यन्त उत्साहित होकर बोली —

"अवश्य"

पीहर जाने की बात से बढ़ कर और कौन-सी बात हो सकती है जो नारी को प्रिय हो। 'कोटिक ही कलधौत के धाम' वह पीहर की एक टूटी-फूटी कुटिया पर न्यौछावर कर सकती है।

यही कारण था कि रूपमती के मुख से एकदम 'अवश्य' निकल गया।

विवेक ने भी यह हलके मूड में ही कहा था। पर जब उसने देखा कि रूपमती चलने को तैयार ही हो गई है तो अब चल देने में ही लाभ है; क्योंकि महात्माजी के चक्कर से बचने का इससे सस्ता उपाय और कोई दूसरा नहीं हो सकता था।

यद्यपि वह बिना बुलाए ससुराल जाने के पक्ष में नहीं रहता था, वह अनेक बार बुलाए जाने पर भी बहुत कम जाता था; तथापि इस समय वह सचमुच जाने की सोचने लगा था। वह '**शुभस्य शीघ्रम्**' की लोकोक्ति के अनुसार इस काम को जितनी जल्दी हो सके, सम्पन्न कर देना चाहता था। पत्नियों की पीहरप्रियता उसे इस समय वरदान प्रतीत हो रही थी।

अतः वह बात को आगे बढ़ाता हुआ बोला —

"जल्दी निबटाओ काम और समेटो बोरी-बिस्तर।"

रूपमती सोचने लगी — "आज क्या हुआ है इनको? अनेकों मिन्नतें करने पर भी जो अपनी ससुराल जाने को तैयार नहीं होते थे, आज क्यों इतनी जल्दी तैयार हो गये हैं?"

सहज स्वीकृति और जाने की उतावली देख रूपमती सशंक हो उठी। उसके चेहरे पर गम्भीरता छा गई।

उसके गम्भीर चेहरे को देख विवेक बोला — "क्यों? नहीं चलना है तो मत चलो। मैंने तो वैसे ही कह दिया था। सोचा बहुत दिनों से नहीं गए, सो हो आवें, निकले हैं घर से तो; फिर बार-बार निकलना तो होता नहीं। इतने दिन हुए तो चार दिन और सही।"

रूपमती को लगा कि उसकी गम्भीरता को विवेक ने उसकी पीहर के प्रति अरुचि समझी है। अत: उसने सफाई देते हुए कहा —

"नहीं, पीहर जाना किसे अच्छा नहीं लगता? कौन स्त्री पीहर जाना नहीं चाहती? पर आप तो अभी, आज ही चलने को कहने लगे। आपको पता नहीं परसों तो बाबाजी के पास चलना है। उन्होंने तीन दिन बाद बुलाया था न? भूल गए।"

यद्यपि विवेक को सब-कुछ याद था, उनसे बचने के लिए ही तो वह पीहर की भावना उभार कर निकल भागना चाहता था, फिर भी वह भोला बनते हुए बोला —

"हाँ, मुझे तो याद ही नहीं रहा था। पर महात्माजी कर क्या देंगे?"

आश्चर्य व्यक्त करते हुए रूपमती बोली —

"कैसी बातें करते हो? उस दिन आपने देखा नहीं था कि वे बिना परिचय के ही तुम्हें पहचान गए थे और मेरे मन की जो बात तुम इतने करीब रहकर भी आज तक नहीं जान पाए थे, वे पल भर में ही बिना कहे जान गए थे।

बहुत-सी बातें ऐसी ही होती हैं, जिन्हें नारी जबान पर नहीं ला सकती। कैसे कहे ऐसी बातें, पर वे तो अन्तर्यामी हैं, सब जान गए।"

"हाँ! हाँ!! जान तो गए।" - भोला बनते हुए विवेक ने कहा।

रूपमती बोली — "पर तुम तो भोलानाथ बने बैठे रहे, दो शब्द तक नहीं बोले।"

"तुमने मना जो कर दिया था।"

"मैंने तो अनाप-शनाप बकने के लिए मना किया था, न कि ···।"

"तूने कह दिया — बोलना मत, मैं नहीं बोला। अब तू कहे तो बोलूँगा। मुझे भी दो-चार बातें पूछनी हैं, मुझे भी तो कुछ लाभ मिलना चाहिए।"

"श्रद्धा रखोगे तो अवश्य मिलेगा।"

"लाभ मिलेगा तो श्रद्धा क्यों नहीं रखूँगा?"

"तो ठीक है, पूछना, अवश्य पूछना।"

"पर एक बात है, तुझे चुप रहना होगा।"

"क्यों?"

"तूने अपनी बातें कहीं, तब मैं चुप रहा; जब मैं पूछूँ, तब तू चुप रहना"

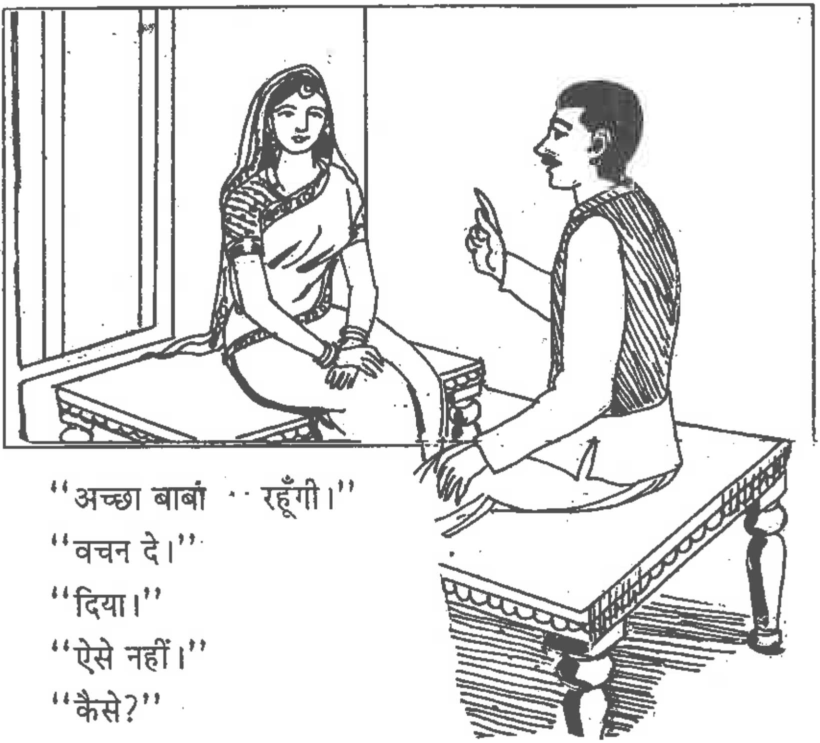

"अच्छा बाबा ·· रहूँगी।"

"वचन दे।"

"दिया।"

"ऐसे नहीं।"

"कैसे?"

"हाथ पर हाथ रख कर।"

"हाँ! हाँ!! हाथ पर हाथ रख लो। जब एक बार रख दिया तो दुबारा रखने में क्या है?"

रूपमती की प्रसन्नता और बढ़ गई थी; क्योंकि उसने विवेक में महात्माजी के प्रति श्रद्धा उदित होती अनुभव की थी। इसे वह महात्माजी द्वारा प्रदत्त मंत्र का ही प्रभाव समझ रही थी।

विवेक भी कुछ-कुछ खुश था; क्योंकि उसने भी महात्माजी से अगली मीटिंग के समय रूपमती का चुप रहना और खुद का बोलना सहज स्वीकार करा लिया था।

१०

आत्मा के अनन्त गुणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण श्रद्धा है। शेष समस्त गुण तो श्रद्धा का अनुसरण करते हैं। एक प्रकार से रुचि श्रद्धा का ही दूसरा नाम है। परपदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा की रुचि ही सम्यक्-श्रद्धा है और निजात्मा से भिन्न परपदार्थों की रुचि ही मिथ्याश्रद्धा।

बल रुचि का अनुसरण करता है, अतः बल वहीं पड़ता है जहाँ रुचि होती है। अनन्त गुणों का बल उसी दिशा में कार्य करता है, जहाँ रुचि हो। यही कारण है कि आत्मरुचिवान व्यक्ति आत्मोन्मुखी हो जाता है, और पर-रुचि वाला परोन्मुखी।

जिसके प्रति श्रद्धा होती है, उसे व्यक्ति अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार हो जाता है। यदि वह अपने में हुई तो अपने लिए और पर में हुई तो पर के लिए सर्वस्व लुटा देना ही उसकी वृत्ति है।

आत्मश्रद्धान ही सम्यक्श्रद्धान है और सम्यक्श्रद्धान समस्त दुःखों से मुक्ति पाने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सोपान है। यह मुक्ति-महल की प्रथम सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी सच्चे नहीं हो सकते।

अतः **श्रद्धा का लुटेरा ही सबसे बड़ा लुटेरा है।** धन-जन-तन **का लुट जाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; पर मन का लुट जाना, श्रद्धा का लुट जाना-सब-कुछ लुट जाना है।** धन-जन-तन तो पर हैं हीं, वे तो संयोगी पदार्थ हैं, उनका आना-जाना तो लगा ही रहता है। उनके आने-जाने से आत्मा का कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। पर अनादिकाल से यह आत्मा यदि दुखी है तो उसका एकमात्र कारण सम्यक्श्रद्धान का अभाव है, मिथ्याश्रद्धान है। उससे मुक्ति पाना ही वास्तविक मुक्ति है।

चोर और डाकू सिर्फ धन लूटते हैं, उससे भी बड़े अपराधी जन लूटते हैं; तन लूटते हैं। पर श्रद्धा के लुटेरे धन-जन-तन तो लूटते ही हैं, साथ

में जीवन भी लूट ले जाते हैं। अतः यह सत्य ही है कि श्रद्धा का लुटेरा सबसे बड़ा लुटेरा है।

चतुर लुटेरा यह अच्छी तरह जानता है कि श्रद्धा को लूटे बिना किसी को पूरा नहीं लूटा जा सकता। श्रद्धा लूटने के लिये बहुत-कुछ करना होता है। अज्ञानी होते हुए भी ज्ञान का, अत्यागी होते हुए भी त्याग का, सब-कुछ रख कर भी कुछ न रखने का, सब-कुछ करते हुए भी कुछ न करने का प्रदर्शन करना पड़ता है; क्योंकि इनके बिना किसी की भी श्रद्धा को लूटना संभव नहीं है। धर्म के नाम पर ढोंग के प्रचलन का मूल केन्द्र-बिन्दु यही है।

तीन दिन बाद जब रूपमती और विवेक महात्माजी के पास पहुँचे तो वे उनकी प्रतीक्षा में ही बैठे थे। आवश्यक नमस्कारादि करके वे ज्योंही बैठे, महात्माजी ने पूछा —

"मंत्र का जाप बताए अनुसार किया था या नहीं ?"

रूपमती बोली — "क्यों नहीं ! पूरी श्रद्धा के साथ और विधिपूर्वक किया था। मुझे तो उसका प्रतिफल भी नजर आता दिखाई दे रहा है।"

महाराज मुस्कराये, पर विवेक ने रूपमती की ओर आँखें तरेर कर देखा। रूपमती उनकी आँखों की भाषा समझ गई और चुप हो गई। महाराज कुछ न समझ सके। वे विवेक की ओर देखते हुए बोले —

"तुम विदिशा के रहने वाले हो न ?"

"हाँ महाराज! आपने कैसे जाना ?"

"यह कोई बड़ी बात नहीं है। हम तो यह भी जानते हैं कि तुम अपने माँ-बाप की इकलौती सन्तान हो, बड़े ही क्रान्तिकारी विचारों के हो। तुमने यह शादी भी अपने आदर्श विचारों के अनुरूप की है। हजारों का दहेज ठुकराया है।"

"हैं महाराज! आप तो बहुत-कुछ जानते हैं। अद्भुत ज्ञान है आपका।"

"इसमें क्या ? हम अपने दिव्यज्ञान से तुम्हारे पीछे की सात पीढ़ियाँ स्पष्ट देख रहे हैं। तुम्हारे पिता के पिता के पिता एक बहुत बड़े जागीरदार थे। बड़े ही उदार प्रकृति के थे। उन्होंने एक विशाल मन्दिर भी बनवाया था, जो आज भी उनकी कीर्ति-पताका को लोक में फहरा रहा है।"

"और महाराज ?"

"और क्या ? उनके भी कोई सन्तान नहीं होती थी। मन्दिर-निर्माण के बाद ही उन्हें सन्तान प्राप्त हुई थी। इसलिए उन्होंने बच्चे का नाम भी देवकुमार रखा था। अधिक सन्तानें तो तुम्हारी किसी भी पीढ़ी में नहीं हुईं। ऐसे ही सब कुछ चलता रहा है।"

"इतना तो मैं भी नहीं जानता, महाराज! पर आपने जो बताया, उसमें मैं जितना जानता हूँ, सब सत्य है।"

"सत्य क्यों नहीं होगा, बेटा! मैं कोई गप्प थोड़े ही हाँक रहा हूँ। मुझे जो दिखाई दे रहा है, वही बता रहा हूँ।

देवकुमार की दो शादियाँ हुई थीं। पहली से कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिए दूसरी शादी की थी । दूसरी से भी कुलदेवी की आराधना से सन्तान का मुख देख पाए थे।"

"हाँ! यह तो मैंने भी सुना था अपनी माताजी से।"

"तुम्हारी यह समस्या कोई नई नहीं है, असाध्य भी नहीं। पूर्वजों के समान उपचार करने पर तुम्हारी कामना भी पूर्ण हो सकती है।

और भी बहुत-सी बातें हैं तुम्हारे परिवार के बारे में, जो मेरे ज्ञान में आ रही हैं। उनमें कुछ तो ऐसी हैं, जिन्हें कहना ठीक नहीं है, कुछ ··· ।"

"रहने दीजिए महाराज।"

रूपमती आश्चर्य से आँखें फाड़े कभी महाराज की ओर और कभी विवेक की ओर देख रही थी।

विवेक सोच रहा था कि महाराज हैं तो होशियार । तीन दिन में इन्होंने बहुत-सी जानकारी इकट्ठी कर ली है। इनके इस कुशल नियोजन का ही परिणाम है कि भक्तों की भीड़ लगी रहती है। सत्योद्घाटन में बहुत सावधानी बर्तनी होगी। - इसप्रकार के विचारों में विवेक कुछ मग्न-सा हो गया।

उसके चेहरे की मग्नता देख महाराज सोच रहे थे कि काम हो गया। उसे सचेत करते हुए वे बोले - "क्यों भाई! क्या सोच रहे हो?"

"कुछ नहीं महाराज ।"

"कुछ तो?"

"आप तो सब जानते हैं। जब भूतकाल की जानते हैं तो फिर मैं क्या सोच रहा हूँ, यह भी जानते ही होंगे। अब आपसे क्या छिपाऊँ? यही सोच रहा था कि जब आप भूतकाल की जानते हैं तो भविष्य की भी अवश्य जानते होंगे ?"

"हाँ! हाँ!! क्यों नहीं जानते ? बोलो क्या जानना चाहते हो ?"

"कुछ नहीं महाराज! बस यही कि हमारे बच्चे-बच्चियाँ बचते क्यों नहीं ?"

अभी तक महाराज समझे थे कि इनके बच्चे हुए नहीं; अत: उन्होंने उक्त भूमिका प्राप्त जानकारी के आधार पर बनाई थी; किन्तु विवेक के प्रश्न से पासा ही पलट गया। वे समझ गए कि इनकी समस्या बच्चे न होने की नहीं, न बचने की है। उन्हें अपनी भूमिका बेकार होती-सी लगी। वे 'बच्चे और बच्चियाँ' शब्द से यह भी समझ गए कि दोनों ही हुए हैं, पर बचा एक भी नहीं। अत: उन्होंने पैतरा बदला —

"हाँ ! तुम्हारी कठिनाई तुम्हारे पूर्वजों से कुछ हटकर है। यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम्हारे बच्चे भी हुए हैं और बच्चियाँ भी, पर वे बचे नहीं। नहीं होना और नहीं बचने में कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों का इलाज संभव है। श्रद्धा होनी चाहिए।"

रूपमती बीच में बोलना चाहती थी। वह कुछ घबड़ा-सी भी रही थी। पर विवेक ने आँखें चढ़ाकर उसकी ओर देखा तो वह चुप रह गई, नीचे की ओर देखने लगी।

"इलाज तो बहुत कराया, बड़े-बड़े डॉक्टरों का भी, पर एक को भी नहीं बचा पाया" — विवेक बोला ।

"यह कुलदेवी का प्रकोप है, बेटा! इसमें डॉक्टरों का इलाज काम नहीं देगा।"

"तो क्या करना होगा महाराज?"

"तुम्हारा केस जरा मुश्किल है; क्योंकि तुम्हारे बच्चे-बच्चियाँ बचते नहीं हैं। इसके लिए बहुत व्यवस्था करनी होगी।"

"कुलदेवी क्यों रुष्ट हो गई ? हमने तो उसका कुछ नहीं बिगाड़ा। ये तो प्रतिदिन उसकी पूजा करती हैं। उसके नाम की माला फेरती हैं। उसके नाम की मढ़िया भी…।"

"हाँ-हाँ बेटा ! हमें सब पता है। यह तो उसकी पूजा-पाठ करती ही है, मढ़िया भी बनवा दी इसके कहने से तूने, पर तू तो कभी नहीं गया उसकी पूजा-पाठ करने ।"

"क्यों नहीं गया महाराज ! मैं इसे अकेली जाने ही कब देता हूँ ?"

"अरे भाई! साथ तो गये, पर पूजा-पाठ तो नहीं किया।"

"क्यों, महाराज! इसके साथ मैं भी देवी की पूजा करता ही हूँ।"

"भाई! मैंने यह कब कहा कि तूने उसका पूजा-पाठ नहीं किया ?"

"अभी तो आप फरमा रहे थे।"

"तुम समझते तो हो नहीं। भाई ! श्रद्धापूर्वक नहीं किया, इसी को हम महात्मा लोग कहा करते हैं कि 'नहीं किया'।

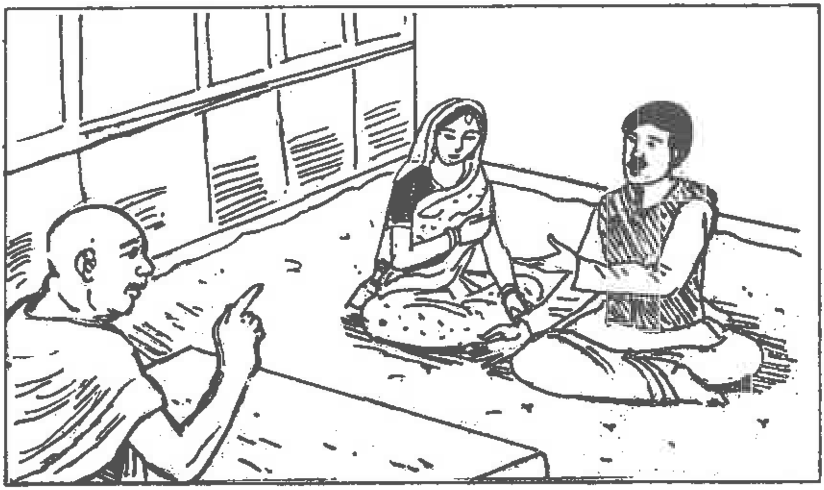

अब तो अभी जावो । तुम्हारा केस उलझा हुआ है। इसके लिए मुझे बहुत साधना करनी होगी, तब कोई रास्ता निकलेगा । दो दिन बाद आना ।"

"महाराज कोई रास्ता निकालना अवश्य।"

"हाँ! हाँ!! अवश्य निकालूँगा। मेरा जीवन तो भक्तों के कष्ट दूर करने के लिए ही है।"

"अच्छा तो नमस्कार, अभी चलूँ महाराज ! कृपा रखना ।"

"जावो ! जावो !! चिन्ता न करो !!! उस मंत्र का जाप दोनों ही श्रद्धापूर्वक तबतक जपते रहना, जबतक कोई दूसरा रास्ता नहीं निकल आता। भगवान करेगा तो कोई-न-कोई रास्ता निकल ही आवेगा।"

वे दोनों तो चले गये, पर महात्माजी चक्कर में पड़ गए कि ग्राहक मालदार है, पर है तर्कबाज। इसकी बातों में कुछ भी कहने पर कहीं-न-कहीं चक्कर पड़ ही जाता है।

मैंने समझ था कि नास्तिक है, यह क्या पूजा-पाठ करता होगा कुलदेवी की ? अतः कह दिया कि तू नहीं करता । पर **आज के ये बाबू ऊपर से कितने ही तेज दिखें, पर होते हैं जोरू के गुलाम ।**

देखो जैसे बिना श्रद्धा के ही जोरू के कहने से ही मेरे पास चला आया, उसीप्रकार उसके कहने से देवी की पूजा भी करता होगा। पर मैंने भी बात संभाल ली, यह कहकर कि श्रद्धापूर्वक नहीं की तो नहीं करना जैसे ही हुआ। - यह उक्ति तत्काल न सूझती तो उसकी श्रद्धा जमते-जमते उखड़ जाती। इससे बातें करने में सावधानी बरतनी होगी।

है तो तेज, पर जाएगा कहाँ; जोरू का गुलाम जो ठहरा। यदि इस दुनिया में ये भोली-भाली स्त्रियाँ न होतीं तो हमारा काम कैसे चलता और यदि इनका दबाब पतियों पर नहीं होता तो भी काम बनना कठिन था।

आज तो मामला उलझता दिखा तो उसे भेजना ही पड़ा, पर यदि अब वह नहीं आया तो ?

आएगा क्यों नहीं ? नहीं आएगा तो वह लाएगी। उसके न आने की चिन्ता करना तो व्यर्थ है, पर ऐसे-वैसे काम नहीं चलेगा। कोई और अचूक उपाय सोचना होगा।

इत्यादि विचार करते हुए महात्माजी दूसरे भक्त की ओर मुड़ गए। ●

११

जिस व्यक्ति या सिद्धान्त को हम अत्यन्त विश्वसनीय एवं ठोस मानते आ रहे हों, जिसके प्रति हमारी महान श्रद्धा वर्षों से रही हो, जिसे हम भगवान की तरह पूजते आ रहे हों, जिससे हमने बहुत आशाएँ बाँध रखी हों; उसके अचानक गलत सिद्ध हो जाने पर हमारे हृदय में एक विचित्र प्रकार का भाव उदित होता है, जिसे न हम हर्ष ही कह सकते हैं न विषाद। वह एक ऐसा आश्चर्यमिश्रित भाव होता है, जिसे हमारा हृदय सहज स्वीकार नहीं कर पाता। एक ओर जहाँ हम एक बहुत बड़े धोखे से अपने को बचा पाते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने को अनाथ-सा भी अनुभव करते हैं। ऐसा लगता है - जैसे आज हमारा कुछ खो गया है, आधार समाप्त हो गया है।

जिसके भरोसे हम बहुत-कुछ निश्चिन्त हो जाते थे, चाहे वह निराधार ही हो; पर जिसके आधार पर हम थोड़ी राहत तो अनुभव करते थे, उस आधार के एकदम काल्पनिक सिद्ध हो जाने पर हम अपने को अनाधार, अनाश्रय एवं अनाथ-सा अनुभव करते हैं। हम एक खीज-सी अनुभव करते हैं — उसके धोखे पर । एक ग्लानि-सी अनुभव करते हैं — अपने अज्ञान पर। कभी-कभी एक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं — अज्ञान से मुक्ति पाने पर।

इसप्रकार खीज, ग्लानि, प्रसन्नता आदि का विचित्र-सा मिश्रण होता है उस भाव में । उस भाव की स्थिति में न कुछ बोलते बनता है, न चुप रहते। किंकर्त्तव्यविमूढ़ जैसी स्थिति हो जाती है। कुछ समझ में नहीं आता है कि क्या करें — क्या नहीं ?

कुछ ऐसी ही स्थिति रूपमती की हो रही थी। वह रास्ते भर गुम-सुम-सी ही चलती रही, एक शब्द भी न बोली । बाहर से जितनी शान्त थी, अन्दर से उतनी ही उद्वेलित।

वह सोच रही थी — "मैं महात्माजी को दिव्यज्ञानी समझ रही थी। वे कहते भी तो थे — बिना पूछे स्वयं ही कि — 'मुझे सब पता है।' पर वह तो इतना

भी नहीं जान सके कि हमारे सन्तान पैदा ही नहीं हुई। विवेक के जरा-सा गुमराह करने पर कहने लगे कि — 'मुझे सब पता है कि तुम्हारे बच्चे बचते नहीं हैं।' इसीप्रकार कुलदेवी की मढ़िया, पूजा आदि की काल्पनिक बातों को भी उसीप्रकार कहते गये कि मुझे सब पता है।

जब उन्हें पता नहीं था तो क्यों झूठ-मूठ हाँ करते रहे? इनको भी तो देखो कैसी तरकीब से बात की।''

विवेक भी कुछ असमंजस में था। उसकी असमंजसता का कारण रूपमती का मौन और उदासीनतापूर्ण गम्भीरता थी। वह सोच रहा था कि रूपमती पर उक्त घटना की न मालूम क्या प्रतिक्रिया हुई हो? उसकी चुप्पी से वह प्रतिकूल प्रतिक्रिया से आशंकित हो रहा था।

अन्ततः, वह रास्ते का उदास मौन तोड़ता हुआ बोला —

''क्या सोच रही हो ? क्या फिर मुझसे कोई गलती हो गई है ?''

''नहीं ! नहीं !! गलती तो मुझसे ही हुई है आज तक । पर मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि जब वह ढोंगी महात्मा इतनी-सी बात भी नहीं जान सका कि हमारे बच्चे होते नहीं हैं या बचते नहीं हैं तो फिर वह अपनी सात पीढ़ियों की बातें सही-सही कैसे जान गया ?''

अनुकूल प्रतिक्रिया से आश्वस्त होता हुआ विवेक समझाने के लहजे में बोला — ''तीन दिन उसने किसलिए लिये थे? उन दिनों में उसने उक्त समस्त जानकारी इकट्ठी कर ली होगी। उसकी बातों से मुझे उसी दिन शक हो गया था, जिस दिन उसने तुम्हें प्रभावित करने के लिए तुम्हें बीच में टोकते हुए कहा था कि ये तुम्हारे पति हैं और तुम्हारे बच्चे नहीं होते हैं। इसमें ज्ञान की कोई बात नहीं थी; क्योंकि तुम्हें पति के साथ आने को कहा ही था। 'शादी को आठ वर्ष हो गए' वाक्य से यह अर्थ निकाल लेना कि बच्चे नहीं हैं — साधारण-सी बात है, पर तुमने आश्चर्य व्यक्त किया तो उसने दिव्यज्ञान और महात्मापन बताकर तुम पर और रोब डाल दिया।

तीन दिन की साधना का समय माँगकर तुम्हें विदा किया। साधना और कुछ नहीं थी — यह सब जानकारी प्राप्त करनी थी, जिससे वह मुझे प्रभावित करना चाहता था।''

आश्चर्यचकित होती हुई रूपमती बोली —

"तुम यह सब कैसे जान गए ?"

"यह बहुत साधारण बात है। पर मैं चाहूँ तो तुम पर इससे ही अपने ज्ञान और महात्मापन का रौब डाल सकता हूँ। तभी तो मैं कहता हूँ कि **जबतक सहज श्रद्धालु नारी जाति शिक्षित नहीं होगी, उसे ढोंगी साधुओं और धूर्त महात्माओं से बचाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।**"

विचलित-सी रूपमती बोली — "ऐसे तो ये लोग रोज सैकड़ों को बहकाते होंगे ?"

"इसमें क्या शक! बहकाते ही हैं, तुमने सब अपनी आँखों से देखा ही है !"

महा-अनर्थ की कल्पना से उत्तेजित होती हुई रूपमती बोली —

"आपको इनका भंडाफोड़ करना चाहिए। सारी दुनिया को आगाह कर देना चाहिए कि कोई इनके चंगुल में न फंसे ।"

"इतना आसान नहीं है रूपमती ! इनसे जगत को बचाना, जितना तुम समझ रही हो। तुमको बचाने में ही मुझे कितने पापड़ बेलने पड़े, तुम जगत को बचाने की बात करती हो ! जगत को तो भगवान भी इनसे नहीं बचा सकता । बचा सकता होता तो अवश्य बचा लेता, अन्यथा यह सब अबतक चलता कैसे? अपना लोटा छानने में ही लाभ है।

जबतक दुनिया में अज्ञान है, लोभ है, विषयों में सुख-बुद्धि है; तबतक इनका यह सब-कुछ चलेगा। जबतक यह जगत बुरा काम करके सुखी होना चाहता रहेगा, पाप करके उसके फल से बचना चाहेगा, धर्म की आराधना बिना सुखी होना चाहेगा, भोगों की प्राप्ति ही ध्येय बनाए रखेगा, संयोग में ही सुख की कल्पना करता रहेगा; तबतक स्वयं इनके चंगुल में आकर वैसे ही फंसता रहेगा जैसे पतंगे दीपक पर पड़ते हैं, जलते हैं — फिर भी उसी पर पड़ते हैं।

तुम उसके पास स्वयं पहुँचीं। क्या तुम्हें कोई ले गया था उसके पास ? तुम स्वयं ही तो अपने अज्ञान से संतान के लोभ से उसके पास पहुँची थीं।

उनके भंडाफोड़ के चक्कर में उलझोगी तो स्वयं अपना समय खराब करोगी। इसमें ही गनीमत समझो कि तुम स्वयं निकल आई इस चक्कर से।

जगत में कोई खोटा सिक्का चलाए तो उसको रोकना अपने बस की बात नहीं है, पर अपनी तिजोरी में खोटा सिक्का न आ जाए, इसका ध्यान तो रखना ही पड़ता है। तुम अपनी चिन्ता करो, जगत की नहीं ।

जबतक जगत न समझे, तबतक उसे बचाना कैसे संभव है? तुम्हीं बताओ, जबतक तुम्हारी समझ में नहीं आया, मैंने हजार बार कहा, पर तुमने माना? आज भी तुम न समझ पातीं तो मैं क्या कर लेता ? तब तुम अभी मुझसे लड़तीं। कहतीं — तुमने क्यों झूठ बोला महात्माजी से कि हमारे बच्चे बचते नहीं है; हम कुलदेवी की पूजा करते हैं। रोने लगतीं और न जाने क्या-क्या कर डालतीं! मुझे महात्माजी से माफी माँगने को भी बाध्य कर सकती थीं। जब मेरी इच्छा के बिना वहाँ ले गईं, तब यह भी कर सकती थीं। तुम्हारे राग में, तुम्हें रास्ते पर लाने के चक्कर में शायद मैं भी यह सब करता।

एक बात और भी तो है कि **सुखी होने का सही रास्ता सत्य पाना है, सत्य समझना है। किसी का भंडाफोड़ करना नहीं, किसी की पोल खोलना नहीं। यदि इस एक साधु की पोल खोल भी दी तो क्या हो जाने वाला है, न जाने लोक में ऐसे कितने लोग हैं? तुम कहाँ-कहाँ पहुँचोगी, किस-किस को बचाओगी? सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सही स्वरूप समझना ही कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र से बचने का सच्चा उपाय है।**

सामान्यतः देव-गुरु-धर्म का विरोध करना भी तो ठीक नहीं; क्योंकि इससे तो सच्चे देव-गुरु धर्म का भी निषेध हो सकता है। अतः शास्त्राधार से इनका सही स्वरूप समझने का यत्न करना चाहिए।

तुम इनके भण्डा फोड़ने की बात करती हो ? मैं ऐसा कई बार कर चुका हूँ, पर कोई लाभ नहीं हुआ, चित्त को अशान्ति ही प्राप्त हुई। बहुतायत जगत में इनकी ही है। सत्य को समझने वाले जगत में हैं ही कितने ? सत्य को समझने के लिए जितना धैर्य चाहिए, उतना है किसके पास ? यदि इनके भंडाफोड़ के चक्कर में पड़े तो हम स्वयं उलझन में पड़ सकते हैं।

तत्त्वज्ञान के प्रचार का सही रास्ता यह है भी नहीं। यह तो निषेधात्मक, नकारात्मक मार्ग है; यह रचनात्मक मार्ग नहीं है। रचनात्मक मार्ग तो सत्य का उद्घाटन है, न कि असत्य का भंडाफोड़ । सत्य का उद्घाटन सत्य को समझना ही है।

गहराई से विचार किया जाय तो ये बेचारे भी स्वयं चक्कर में ही हैं। इन्होंने जब घर-बार छोड़ा होगा, तब सच्चे सुख को प्राप्त करने के विकल्प में ही ये साधु बने होंगे । पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बिना बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझ गए बेचारे। साधु का वेष देख भक्त जुड़ने लगे। अपनी समस्यायें रखने लगे। बिना कुछ किये ही उन्हें उनके भाग्यानुसार कभी-कभी लाभ भी मिलने लगा तो यश मिलने लगा। जब यश मिलने लगा तो उसका रस लग गया। दिव्यज्ञानी होने का यश मिलने लगा तो उसे निभाने की पड़ने लगी। फिर संस्थाएँ खड़ी हुईं और ये अपरिग्रही संत फिर परिग्रह के संग्रह में व्यस्त हो गये। स्वयं उलझ गये, दूसरों को उलझाने लगे। ये सब क्रोध के नहीं, दया के पात्र हैं।

अतः जगत को इनसे नहीं, अज्ञान से बचाना है। ये तो स्वयं शिकार हैं अज्ञान के, इन्हें भी बचाना है। पर अब ये इतने आगे बढ़ गये हैं, महात्मा बन गए हैं न; अतः इनका सुलझना बहुत मुश्किल हो गया है, क्योंकि अब ये समझने के मूड में हैं ही कहाँ ? ये तो समझाने के अभिनय में पड़े हैं। ये स्वयं भटके हुए लोग हैं।''

''ठीक कहते हैं आप। पर आपने एक बात कही थी कि शास्त्राधार से सही बात समझना चाहिए, तो क्या ये शास्त्र नहीं पढ़ते होंगे ? कुछ सोचते नहीं हैं ?'' - गंभीर होती हुई रूपमती बोली।

''अब शास्त्र पढ़ने, सोचने-समझने का इन्हें समय ही कहाँ मिलता है, सुबह से शाम तक भक्तों से घिरे रहते हैं। इसीलिए शास्त्रों में वनवासी कहा है साधुओं को। उन्हें जगत संसर्ग से क्या ? पहिले साधु-महात्मा वन में रहते थे, आत्म-ध्यान में मग्न रहते थे। अब तो वन तो दूर, गाँव भी नहीं जँचते इन्हें। शहर चाहिए, मकान चाहिए और न ज़ाने क्या-क्या चाहिए!''

''तो साधु कैसे बनते हैं ?''

"साधु बनना बहुत सरल है, साधु होना कठिन है। साधु बनने में कपड़े, वेष वगैरह बदलने होते हैं और साधु होने में अपने को बदलना पड़ता है अथवा स्वयं बदलता है। साधु बनना अभिनय है, साधु होना वस्तुस्थिति है। साधु बना बाहर से जाता है, साधु हुआ अन्दर से जाता है। बनने में घोषणा है, बैंड—बाजे हैं, जुलूस है, भीड़-भाड़ है; होना चुपचाप होता है।"

"तो यही बता दीजिए कि सच्चे साधु कैसे होते हैं?"

"जो विरागी होकर, समस्त अंतरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग कर शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करते हैं। परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते। अपने ज्ञानादिस्वभाव को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते। जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं; परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते। शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं; परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दु:ख नहीं मानते! तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसी बनती हैं वैसी बनती हैं, खींचकर उनको नहीं करते। तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं। तीव्रकषाय का अभाव होने से अशुभभाव तो रहा ही नहीं है, शुभ रागभाव को भी हेय जानते हैं। शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखने वाले साधु ही सच्चे साधु हैं।"

इसीप्रकार की बहुत-सी बातें करते हुए वे दम्पति अपने निवास पर पहुँचे और दैनिक कार्य में संलग्न हो गए।

१२

जब आदमी स्वयं किसी बड़े धोखे से बच जाता है तो उसे अपने से अधिक चिन्ता उन लोगों को बचाने की हो जाती है, जो अभी भी उसीप्रकार के धोखे में फंसे हुए हैं। उन लोगों के बचाने के भाव के साथ-साथ एक भाव और भी उसके भीतर काम करता है। वह यह कि देखो! धोखेबाज लोग धोखे के जरिए कैसे-कैसे ऐश-आराम कर रहे हैं, महात्मा बने बैठे हैं। स्वयं ठगे जाने से एक प्रकार का द्वेष, घृणा उनके प्रति उसके हृदय में उत्पन्न हो जाता है और जब उसे उनका वह ढोंग-पाखण्ड रोकना अपनी शक्ति के बाहर दिखाई देता है तो उसकी उद्विग्नता और भी अधिक बढ़ जाती है।

यद्यपि वह बहुत सोचता है कि हमें क्या ? जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा अथवा जिनकी नियति ही ठगाए जाने की है, वे ठगाए ही जावेंगे; हम क्या करें ? फिर भी उसका चित्त उधर से हटता नहीं, बार-बार उधर को ही जाता है। वे ही बातें बार-बार उसके दिमाग में घूमती हैं और चित्त में एक प्रकार की उद्विग्नता बनी ही रहती है।

यद्यपि रूपमती को विवेक ने स्पष्ट समझाया था कि इनके भंडाफोड़ के चक्कर में उलझने से कोई लाभ नहीं है और न ही इनके चंगुल से भोले भक्तों को बचाना आसान ही है; अतः इस विकल्प को छोड़कर अपने हित की चिन्ता करना ही श्रेयस्कर है; तथापि रूपमती का चिन्तन उनके भंडाफोड़ एवं उनके चंगुल में फंसे निरीह लोगों को बचाने की दिशा में ही चलता रहा। कुछ उपाय समझ में न आने से वह चिन्तन उद्विग्नता की स्थिति में पहुँचा गया। परिणामस्वरूप उसे रात्रि में ढंग से नींद भी नहीं आई।

विवेक को आज बहुत दिनों बाद गहरी नींद आई थी; क्योंकि आज उसकी बहुत बड़ी समस्या हल हो गई थी। वह जिस उद्देश्य से यात्रा पर निकला था, आंशिक रूप से ही सही, वह आज सफल हो गया था। वह अपने लक्ष्य के

एक पड़ाव पर पहुँच गया था। जिसप्रकार थका हुआ राही पड़ाव पर पहुँचकर गहरी नींद में सो जाता है, वह भी आज गहरी नींद में सोया था।

यद्यपि वह यह अच्छी तरह जानता था कि अभी रूपमती को सत्य तक पहुँचने में काफी समय लगेगा; तथापि वह इसलिए आश्वस्त था कि जब उसकी दृष्टि बदल गई है तो सृष्टि भी बदल जाएगी। अब देर है, अन्धेर नहीं।

जब रात्रि के पिछले पहर उसकी नींद खुली तो उसने रूपमती को करवटें बदलते पाया ।

उसने पूछा — "क्यों नींद नहीं आ रही है क्या ? अभी तक सोई नहीं?"

रूपमती कहने लगी — "कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए।"

"किस बात का ?"

"इनके चंगुल में फंसे निरीह लोगों को बचाने के लिए।"

"तुम छोड़ो न उनकी बात को। अब क्यों व्यर्थ ही परेशान हुई जा रही हो? कल तुम्हें समझाया था न कि इतना आसान नहीं है यह सब-कुछ करना।"

"क्यों ? क्या सरकारी स्तर पर कुछ नहीं किया जा सकता ? क्यों नहीं इन साधु-महात्माओं पर प्रतिबंध लगवा दिया जाए ?"

"कैसी बातें करती हो ? मैं इस बात के पक्ष में नहीं हूँ कि साधुता पर ही प्रतिबंध लगवा दिया जाय; क्योंकि फिर तो सच्चे महात्मा-साधु भी उस प्रतिबंध के शिकार हो जावेंगे।"

"मैं सच्चे साधु-महात्माओं पर प्रतिबंध लगाने की बात थोड़े ही कर रही हूँ। पर ··· ।"

"तुम समझती तो हो नहीं। इसका कौन निर्णय करेगा कि सच्चा कौन है और झूठा कौन ?

जितने दर्शन हैं वे सब स्वयं को सत्य और अन्य को असत्य कहते हैं। तथा परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले सभी तो निश्चित रूप से सत्य नहीं हो सकते। पर निष्पक्ष निर्णय के बिना सभी दर्शनों पर प्रतिबंध लगा देने से तो सत्य दर्शन भी प्रतिबंधित हो जाएगा।

जिसप्रकार एक सत्य दर्शन की सुरक्षा आवश्यक है, भले ही उसके कारण अनेक गलत भी चलते रहें; उसीप्रकार एक सच्चे साधु के अप्रतिबंधित विहार के लिए अनेक तथाकथित साधुओं पर भी प्रतिबंध लगाना सम्भव नहीं है।

एक बात और भी तो है कि इन पर कुछ भी कार्यव़ाही करने से धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप की बात करके ये लोग ही साम्प्रदायिकता भड़का देंगे। '**धर्म खतरे में है**' का नारा जोर-जोर से लगावेंगे । इनके चंगुल में फंसे जिन भक्तों को तुम बचाना चाहती हो, वे ही भड़क उठेंगे । और भी अनेक प्रकार की समस्यायें उठ खड़ी होंगी।''

कोई उपाय न देख शिथिल-सी रूपमती बोली —

''कुछ भी हो, कुछ न कुछ तो करना ही चाहिए।''

''एक ही उपाय है'' - विवेक बोला — ''और वह यह कि जनता को शिक्षित किया जाए। जनता को शिक्षित किए बिना, उसमें तार्किक बुद्धि उत्पन्न किए बिना, विवेक जागृत किए बिना, यह संभव नहीं है। पर यह एक लम्बा मार्ग है। इसके लिए बड़े ही धैर्य की आवश्यकता है।''

''जो भी हो, है तो । हम उसी रास्ते पर चलें। '' - जब उत्साहित होती हुई रूपमती बोली तो विवेक गम्भीर हो गया और कहने लगा —

''समझती क्यों नहीं ? यह सब करने के लिए बातों से काम नहीं चलेगा। यह जगत ऐसा है कि '**रास्ता बता और आगे चल।**' मात्र अन्य गलत साधुओं की आलोचना से काम नहीं चलेगा। उनमें 'यह खराबी है, वह खराबी है' की बात कोई नहीं सुनेगा, उनके सामने सच्ची साधुता का स्वरूप प्रस्तुत करना होगा।

जिसप्रकार बच्चे के हाथ से खतरनाक खिलौना छीनने की कोशिश करने से वह उसे छोड़ता नहीं, बल्कि और अधिक कसकर पकड़ लेता है; अतः यदि उसके हाथ से वह खिलौना हटाना हो तो उसे पहिले उससे अच्छा एवं निरापद खिलौना देना होगा। आकर्षक निरापद खिलौना देखते ही वह खतरनाक खिलौना फेंक देगा। उसीप्रकार जगत-जनों को इनके चंगुल से बचाने के लिए साधुता का सही रूप मूर्त्तरूप में प्रस्तुत करना होगा ।''

''ठीक है।''

"ठीक क्या है ? उसके लिए अध्ययन, मनन, चिन्तन, अनुभवन, संयम, तप-त्याग आदि के मार्ग से गुजर कर, अकिंचन बनना होगा, ब्रह्मलीन होना होगा। जगत की श्रद्धा उन पर से हटाने के लिए स्वयं श्रद्धेय बनना होगा। जगत को एक सजीव श्रद्धेय चाहिए, जिसे वह अपनी श्रद्धा समर्पित कर सके। यदि सही श्रद्धेय नहीं मिलेगा तो वह गलत जगह श्रद्धा समर्पित कर देगा; क्योंकि श्रद्धा बिना श्रद्धेय के नहीं रह सकती, उसे कोई न कोई श्रद्धेय चाहिए।"

"यह मार्ग अच्छा है। इसमें संघर्ष भी नहीं करना होगा। निरापद है, इसमें कोई खतरा नहीं।" - आश्वस्त-सी रूपमती बोली ।

"संघर्ष इसमें भी है।" - विवेक ने कहा ।

"कैसे ?"

"जब उनकी दुकानें उठती दिखेंगी तो संघर्ष उनकी ओर से आरम्भ होगा। वे तुम्हें झूठा कहेंगे। तरह-तरह से बदनाम करने की कोशिश करेंगे। और भी न जाने क्या-क्या करेंगे ! आक्रमण भी कर सकते हैं, मरता क्या न करता ?"

"हैं !" - घबड़ाती हुई रूपमती बोली।

"पर घबड़ाने की कोई बात नहीं" - आश्वासन देते हुए विवेक ने कहा।

"क्यों ?"

"क्योंकि सत्य की सदा विजय होती है। जब हम सत्य मार्ग पर होंगे तो वे सब-कुछ करके भी कुछ न कर सकेंगे। पर हमें उत्तेजित न होना होगा। अपना सन्तुलन बनाए रखना होगा। उनके झूठे आरोपों, गाली-गलौच आदि में भी शान्त और गम्भीर बना रहना होगा।"

"इससे क्या होगा?"

"जगत उन्हें स्वयं ठुकरा देगा; क्योंकि काठ की हांडी बार-बार नहीं चढ़ती। पर जब…।"

"जब क्या ?"

"जब किसी जगह एक ही दुकान हो तो उसका अच्छा-बुरा माल मनमाने भाव बिकता ही है। उसकी आलोचना करने से लोग उसका माल खरीदना बन्द नहीं करते, क्योंकि उन्हें आवश्यकता है। जैसा भी मिलेगा, खरीदेंगे ही।"

"तो क्या करना चाहिए ?"

"सही उपाय उचित मूल्य और अच्छे माल की दुकान खोलना है। इससे उसकी ग्राहकी सहज टूटेगी और सही दुकान सहज बढ़ेगी। वह संघर्ष भी करेगा; क्योंकि उसे अपनी दुकान उठती नजर आवेगी, पर उसकी चलेगी नहीं। उसीप्रकार गलत साधुओं के चक्कर से जगतजन को निकालने का उपाय सच्ची साधुता है। "

"तो आप बन जाइये न साधु।"

"अरी पगली ! तुझे इतना भी विवेक नहीं कि साधु भी क्या दूसरों को सुधारने के लिए बना जाता है? जो दूसरों को सुधारने की दृष्टि से साधु बनेगा, वह सच्चा साधु भी नहीं हो सकेगा। साधु तो आत्मसुधार के लिए बनते हैं।

हाँ ! यह बात अवश्य है कि सच्चे साधुओं के द्वारा आत्महित के साथ-साथ जगत-हित भी सहज ही होता है। सच्ची साधुता से जगत-हित होता है, पर जगत-हित के लिए साधु नहीं बना जाता।

जब किसी आत्म-हिताभिलाषी के जीवन में सम्यक्श्रद्धाज्ञानपूर्वक सच्ची साधुता प्रकट होती है तो उसके जीवन एवं उपदेशों का निमित्त पाकर जगत का भी हित होता है।"

"ठीक है। आत्महित के लिए ही सही, पर साधु ···।"

"साधु बनने के पहिले सच्ची साधुता का सही स्वरूप समझना चाहिए। आत्मा-परमात्मा की सही पहिचान होनी चाहिए। आगमोक्त तत्त्वार्थों का सही ज्ञान होना चाहिए। और भी बहुत-सी बातें हैं। बिना सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान के सच्ची साधुता प्रकट नहीं होती। पहिले इनका अभ्यास करो, फिर साधु होने की बात करना। साधु बनना क्या इतना सहज है?"

"मैं अपनी थोड़ी कह रही हूँ। आप तो तत्त्वाभ्यासी हैं, आप...।"

"अधिक भावुक न बनो। कहाँ तो बच्चा माँगने यात्रा पर आई थीं, कहाँ बाल-बच्चों के लिए ही महात्माजी के चक्कर लगा रही थीं, और कहाँ मुझे साधु बनाने की बात करने लगीं। किसी ने ठीक ही कहा है कि **स्त्रियाँ सन्तुलित रह ही नहीं सकतीं । उनकी भावुकता उनके सन्तुलन को सदा डाँवाडोल बनाये रखती है।**

"मुझसे गलती हो गई, मुझे माफ कर देना।" - एकदम घबड़ातीसी रूपमती बोली। भावुकता में वह एकदम ऐसा कह गयी थी, पर जब उसे ध्यान आया तो वह एकदम काँप उठी। पति के अभाव में अपने जीवन की कल्पना ने उसके तन-बदन में एक कंपकंपी पैदा कर दी थी।

घबड़ाई-सी रूपमती को आश्वस्त करता हुआ विवेक बोला —

"इसमें तुमने कोई अशुभ बात नहीं कही है। साधु होने की प्रेरणा देना कोई बुरी बात नहीं है, पर अभी तुम्हारा चिन्तन आत्महित की दशा में न होकर नकली साधुओं के चंगुल में फंसे लोगों को बचाने की करुणा से विगलित हो रहा है।

करुणा की जैसी तीव्रतम अनुभूति नारियों में पाई जाती है, कठोर हृदय पुरुषों में वह बहुत कम देखने को मिलती है। 'कैसे भी हो यह काम होना ही चाहिए' - इस करुणा-विगलित तुम्हारे चित्त ने ही उक्त बात तुम्हारे मुँह से कहलाई है।

तुम्हारी बात में यदि कोई खराबी है तो यह कि तुम मुझे साधु भी आत्महित के लक्ष्य से नहीं, उन लोगों को बचाने के लक्ष्य से बनाना चाहती थीं। ये लोग भी इसीप्रकार के किसी विकल्प में उलझ कर साधु बन गए होंगे। तभी तो···? साधुता तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सहजवैराग्य-परिणति का फल है।"

"नहीं ! नहीं !! मुझसे गलती हो गई है। मुझे माफ कर दो।"

"इसमें गलती की क्या बात है? ज्ञानी आत्मा तो स्वयं चाहता है कि वह दिन कब प्राप्त हो कि 'मैं घर छोड़कर वन में वास करूँ। नग्न दिगम्बर हो, जगत के सब प्रपंचों से विलग रह आत्म-आराधनारत रहूँ।' पर ···।"

"पर क्या ?"

"यही कि अपनी कमजोरी के कारण वह साधु बन नहीं पाता।"

"जब अज्ञानी लोग बन जाते हैं तो ··· ?"

"अज्ञानी और ज्ञानी में यही तो अन्तर है कि अज्ञानी के समान ज्ञानी के नकली साधुता नहीं आ सकती। आ जाए तो वह ज्ञानी कैसा ?"

"आप कहना क्या चाहते हैं? मेरी समझ में तो कुछ नहीं आया।" — अत्यन्त जिज्ञासापूर्वक मैंढे की भांति आँखें फाड़कर रूपमती बोली।

समझाते हुए विवेक कहने लगा — "तुमने नाटक तो अनेक बार देखा होगा। उसमें दो पक्ष होते हैं — एक नाटक करने वाले अभिनेताओं का और दूसरा दर्शकों का। दोनों के बीच होता है एक पर्दा।"

"हाँ ! होता तो है ।"

"पर्दे के पीछे तैयारी में संलग्न अभिनेता चाहते हैं कि पर्दा शीघ्र खुले, तथा सामने चुपचाप निठल्ले-से बैठे दर्शक भी यही चाहते हैं । किन्तु अभिनेताओं की चिन्ता सार्थक है, दर्शकों की निरर्थक; क्योंकि अभिनेता पर्दा खोलने की तैयारी प्रतिपल कर रहे, हैं, दर्शक मात्र विकल्प में ही उलझे हैं, वे मात्र विकल्प ही कर रहे हैं, तैयारी नहीं। मात्र विकल्प से क्या होता है ?

दर्शकों को पर्दा शत्रु-सा नजर आता है। वे उसे जल्दी से जल्दी हटाना चाहते हैं। अतः कभी-कभी आवाजें भी लगाते हैं, पर्दा खोलने के लिए। उत्तेजित दर्शक पर्दा फाड़ भी सकते हैं। पर पर्दा फाड़ देने से क्या उन्हें वह दृश्य दिखाई दे सकता है, जिसे देखने वे आए हैं, जिसे देखने के लिए वे इतने व्याकुल हो रहे हैं?"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"असमय में बलात् पर्दा खोलने से नाटक नहीं, नाक-कट दिखाई देगा। वहाँ उन्हें सुसज्जित राजदरबार नहीं दिखाई देगा; वरन् अव्यवस्थित स्टेज, अधूरे मेकअप किए अभिनेता ही दिखेंगे। किसी की एक मूँछ रंगी गई होगी तो दूसरी ···।"

"हाँ ! हाँ !! ऐसा ही होगा ।"

"इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि बिना अन्तर की पूर्ण तैयारी के साधु बनने पर भी यही हालत होगी। बाह्य का पर्दा खोल देना आसान है, पर अन्तर से तैयार होना कठिन। अन्तर की पूर्ण तैयारी के साथ ही जो साधु बनेंगे, उनमें यह आडम्बर देखने को नहीं मिलेंगे।

अभिनेता की मर्जी से पर्दा खुलेगा, तब ही नाटक सही होगा, सार्थक होगा। यदि दर्शक की इच्छानुसार कार्य हुआ तो नहीं। उसीप्रकार ज्ञानी की इच्छा से साधुता प्रकट होगी तो ही सच्ची होगी, वास्तविक होगी। यदि अज्ञानी के कहे अनुसार या किन्हीं अन्य बाह्य प्रेरणाओं के बल पर वे साधु हो गये तो इन साधुओं और उन साधुओं में कोई अन्तर नहीं रह जावेगा।

अतः साधुता को सहज ही प्रकट होने देना चाहिए। भावुकता में, वर्त्तमान परिणामों के भरोसे ही महानतम पद को स्वीकार कर लेना और बाद में शिथिल हो जाना, साधुता के साथ अन्याय है। उसकी बदनामी का कारण हो सकता है।

सच्चा साधु होना सिद्ध होने जैसा गौरव है। इस गरिमायुक्त महान् पद के साथ खिलवाड़ करना अपने जीवन और जगत के साथ खिलवाड़ करना हैं।"

"तो क्या करें ?"

"शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन।"

इसीप्रकार चर्चा करते-करते सवेरा हो गया और वे दोनों अपनी दैनिकचर्या में व्यस्त हो गए।

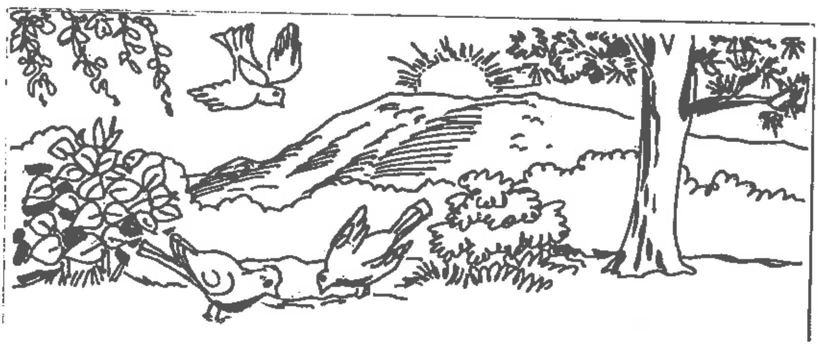

१३

आज की दुनिया में विज्ञान ने क्षेत्र की दूरी समाप्त कर दी है। हजारों किलोमीटर दूर हम घंटों में पहुँच सकते हैं और मिनटों में बात कर सकते हैं। आज क्षेत्र की दूरी का कोई महत्त्व नहीं रहा, पर विज्ञान अभी काल की दूरी को समाप्त तो क्या कम भी नहीं कर पाया है; पर शास्त्र एक ऐसी निधि हैं, जिन्होंने काल की दूरी को भी एक दृष्टि से समाप्त-सा कर दिया है। यद्यपि दो हजार वर्ष पहले हुए संतों से हम आज बात नहीं कर सकते, तथापि शास्त्र के माध्यम से उसके विचार हमें आज भी उपलब्ध हैं। शास्त्रों के माध्यम से आज भी हम उनके बताये वस्तुस्वरूप को सही-सही समझ सकते हैं।

यद्यपि शास्त्रों के माध्यम से उन संतों से कुछ कहना सम्भव नहीं है, तथापि हमारे पास ऐसा है ही क्या, जो उनसे कहने के योग्य हो। वन वे ट्रेफिक (One Way Traffic) जैसी स्थिति है। पूर्वजों को पढ़ सकते हैं, उनको कुछ कहना सम्भव नहीं। आगामी पीढ़ियों को कह सकते हैं, उनको सुनना सम्भव नहीं।

शास्त्रों के माध्यम से ज्ञान की धारा शाश्वत प्रवहमान है। वह हमारे पूर्वजों से हमें प्राप्त हुई है और हमारे माध्यम से आगामी पीढ़ियों को प्राप्त होगी।

जब वीतरागी-सर्वज्ञदेव का अभाव हो, वीतरागी-संतों के भी दर्शन दुर्लभ हो जावें, तब शास्त्र-साहित्य ही एकमात्र शरण है।

जब से तथोक्त महात्माओं के प्रति रूपमती को अश्रद्धा उत्पन्न हो गई, तब से ही उसे एकमात्र शास्त्र ही शरण दिखाई देने लगे थे। उसके हृदय में शास्त्रों के श्रवण, पठन, मनन, चिन्तन की रुचि जागृत हो गई थी। वह भी शास्त्रों के माध्यम से सत्य उपलब्ध करना चाहती थी। अतः उसने बाकी यात्रा का कार्यक्रम शीघ्र पूर्ण कर घर लौट चलने का प्रस्ताव किया तथा घर जाकर शास्त्रों के अध्ययन करने का दृढ़ संकल्प भी प्रकट किया।

जब वे दोनों दम्पति 'जान बची सो लाखों पाये' लोकोक्ति के अनुसार घर वापिस आ गए तो रूपमती ने नियमित स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। गृहस्थी के कार्यों से जो भी समय बचता उसे वह पूर्णरूप से अध्ययन–मनन में बिताने लगी।

लौकिक भोग–सामग्री और सन्तानादि के अभाव की ओर से उसने अपने ध्यान को हटा लिया था। वह शास्त्रों का अध्ययन करती और जो समझ में नहीं आता या कोई शंका होती तो विवेक से पूछती। विवेक भी अपने शास्त्र–ज्ञान और बुद्धि के अनुसार उसकी शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा करता। वह विभिन्न शास्त्रों के प्रमाण, अनेक युक्तियों एवं रोचक उदाहरणों के माध्यम से वस्तुस्वरूप समझाने का यत्न करता।

इसप्रकार उन दोनों का समय शान्ति से व्यतीत हो रहा था।

एक दिन भोजन परोसते हुए रूपमती बोली — "मैंने तो पाठशाला में पढ़ा था कि टेबिल, कुर्सी, पलंग आदि जड़ पदार्थ अजीव हैं और हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, मनुष्य आदि चेतन पदार्थ जीव हैं।"

"ठीक तो है। हाथी, घोड़ा आदि में जीव है, अतः उन्हें जीव कहा है। इसमें आश्चर्य और पूछने जैसी बात क्या है ?"

"इसमें तो कुछ नहीं । पर आज एक जगह पढ़ा कि 'हाथी का शरीर अजीव है और आत्मा जीव।' इसका क्या मतलब ? यह अन्तर क्यों है?"

"यह कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे समझने में अन्तर है।"

"क्या अन्तर है समझने में ?"

"यही कि हाथी तो चेतन आत्मा और जड़ शरीर दोनों की मिली हुई अवस्था का नाम है। अतः जड़ शरीर को अजीव कहा और उसमें रहने वाले आत्मा को जीव ।"

"फिर वहाँ हाथी को जीव क्यों कहा था ?"

"वहाँ अपेक्षा दूसरी थी।"

"क्या ?"

"जिस शरीर में जीव रहता है, उस शरीर को उस काल में जीव का संयोग देखकर जीव कह देते हैं। वास्तव में अरूपी होने से जीव तो आँखों से देखने में नहीं आता। हाथी तो दिखाई देता है, वह जीव कैसे हो सकता है?

"कुछ समझ में नहीं आया।"

"इसे तुम इसप्रकार समझ सकती हो कि एक तो जिसमें जीव अभी मौजूद नहीं है ऐसे अजीव; जैसे - टेबिल, कुर्सी आदि। दूसरे वे अजीव जिनमें अभी जीव विद्यमान है; जैसे - हाथी आदि।"

"इससे मांस आदि खाने की पुष्टि हो जाएगी।"

"क्यों ?"

"जब हाथी आदि का शरीर अजीव है तो उसको मार कर खाने आदि में क्या दोष ?"

"तूने बहुत दूर की कौड़ी उठाई है। अरी पगली ! तू इतना भी नहीं समझती? यह तो मोटी अकल वालों की भी समझ में आ सकता है। खाद्य तो अजीव (जड़) पदार्थ ही हैं, पर मात्र ऐसे अजीव, जिनमें जीव विद्यमान नहीं है। मांस में तो अनन्त जीव विद्यमान रहते हैं तथा वह हिंसा से उत्पन्न होता है।"

"फिर ऐसी बात लिखी ही क्यों, जिससे शंका हो जाए ?"

"इसमें शंका का स्थान ही कहाँ है? यहाँ खाद्य-अखाद्य की चर्चा नहीं हो रही, यहाँ तो जीव-अजीव का भेद-विज्ञान कराया है। क्या खाना चाहिए क्या नहीं - इसका कथन शास्त्रों में पृथक् से है। खाद्य-अखाद्य का निर्णय वहाँ से करना चाहिए।

जीव का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए प्रथम तो उसे उन अजीवों से भिन्न बताया, जिनका उसके साथ संयोग भी नहीं है और बाद में जीव को संयोगी जड़-देह से भी भिन्न बताया है। देह और आत्मा को एक मानने वाले को शास्त्रों में मूढ़मिथ्यादृष्टि कहा है।"

"यह तो समझ में आ गया कि वास्तव में तो चेतन तत्त्व का ही नाम जीव है। उसके संयोग में रहने वाले शरीरादि जड़-पदार्थ तो अजीव ही हैं। किन्तु ..."

"किन्तु क्या ?"

"यह कि एक जगह ऐसा भी लिखा देखा था कि अपनी आत्मा को छोड़कर बाकी सब अजीव हैं। यहाँ तक कि अन्य जीव भी अजीव हैं। यह कैसे हो सकता है? जब अन्य जीव चेतन हैं, उनमें ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, तो वे अजीव कैसे हो सकते हैं? अन्य जीव भी अजीव हैं, यह तो बड़ा अजीब लगता है।"

"इसमें अजीब कुछ भी नहीं है। तुम्हारी समझ का फेर है। शास्त्रों का मर्म समझने के लिए भी बुद्धि की तीक्ष्णता चाहिए। तुमने तो शास्त्रों को 'दादा की चिट्ठी' जैसा पढ़ा है।"

"क्या मतलब ? मैं समझी नहीं।"

"सुनो ! एक बार एक सेठ का लड़का व्यापार के लिए परदेश गया हुआ था। उसे वहाँ दो वर्ष से भी अधिक लग गये। यहाँ उसकी पत्नी को उसका वियोग असह्य प्रतीत हो रहा था।

एक दिन कुएँ पर पानी भरते समय एक विधवा पति के वियोग से दुःखी हो, रो रही थी। उसे समझाते हुए वह श्रेष्ठि-वधू बोली — 'बहिन ! क्यों रोती हो, तुम तो विधवा हो गई हो, पर मुझे तो देखो, सुहागिन होकर भी विधवा जैसा जीवन जी रही हूँ।'

यह बात उसके श्वसुर ने सुन ली और तत्काल चिट्ठी लिखी अपने बेटे को कि 'तुम शीघ्र चले आओ, तुम्हारी पत्नी विधवा हो गई है।'

फिर क्या था, वह पत्र उसके पति के पास पहुँचा। उसे पढ़कर वह जोर-जोर से रोने लगा। मित्रों ने आकर पूछा — 'भाई क्यों रोते हो ? क्या हुआ ?'

वह बोला — 'मेरी पत्नी विधवा हो गई है।'

मित्रों ने समझाते हुए कहा — 'मूर्ख जैसी बातें करते हो ! तेरे रहते तेरी पत्नी विधवा कैसे हो सकती है ?'

वह बोला — 'क्यों ? इसमें क्या है ? मेरे रहते मेरी बहिन विधवा हो गई, भाभी और बुआ विधवा हो गई। मैंने क्या कर लिया ? ऐसे ही पत्नी भी विधवा हो जाए तो मैं क्या कर लूंगा ?'

एक मित्र हँसते हुए बोला — 'यह तो सही है कि तेरी पत्नी विधवा होने लगे तो तू क्या कर लेगा ? पर जबतक तू जिन्दा है, तबतक वह विधवा कैसे हो सकती है; क्योंकि विधवा तो उसे कहते हैं जिसका पति मर जावे । जबतक तू जिन्दा है, वह विधवा नहीं हो सकती । तू चिन्ता मत कर ।'

वह आश्वस्त-सा होता हुआ बोला — 'तुम ठीक कहते हो, पर दादा ने चिट्ठी में साफ-साफ लिखा है कि तेरी पत्नी विधवा हो गई है। वे झूठ नहीं लिख सकते। अतः तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं होता ।'

समझाते हुए दूसरा मित्र बोला — 'दादा ने लिखा है — यह तो सही है, पर तुम्हें दादा की चिट्ठी पढ़नी भी आती है या नहीं ? उनका आशय यह है कि तुम्हारे वियोग में तुम्हारी पत्नी बहुत दुःखी है, विधवापन का अनुभव करती है।''

कहानी का आशय स्पष्ट करते हुए विवेक बोला — ''इसीप्रकार शास्त्रों के वाक्यों का भाव समझना चाहिए। पर-जीवों को अजीव कहा है — उसका आशय इतना ही है कि वे मेरी आत्मा नहीं, मुझसे भिन्न हैं।

शास्त्रों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के कथन होते हैं। उनकी सही अपेक्षा समझकर उनका अर्थ समझना चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

शास्त्र स्वयं तो बोलते नहीं। उनका मर्म बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। स्वयं समझ में न आवे तो ज्ञानियों से उनका मर्म समझने का प्रयत्न करना चाहिए। **समस्त शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है, क्योंकि वीतराग की वाणी के आधार पर ही तो शास्त्रों का निर्माण हुआ है। वीतराग की वाणी वीतरागता की ही पोषक होती है।** जो राग को धर्म बताए, राग-द्वेष का पोषण करे, वह वीतराग की वाणी नहीं हो सकती।

जिन शास्त्रों में मांसादि-भक्षण और राग-द्वेषादि भावों का पोषण हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं।''

''तो क्या शास्त्रों में भी असली-नकली का भेद होता है?''

''नकल किस अच्छी चीज की नहीं होती। जितनी भी चीजें दुनियाँ में अच्छी होंगी, उन सब की नकल होती रही है, हो रही है और होती रहेगी।

हिताहित के विवेक के लिए, सत्य-असत्य की पहिचान के लिए सर्वत्र सावधानी अपेक्षित है।

शास्त्रों के नाम पर भी जिसके मन में जो आया सो लिख मारा है। ऊपर से नाम जोड़ दिया भगवान का — कि भगवान ने ऐसा कहा है।''

''तो कैसे पता चले कि कौन शास्त्र सच्चे हैं, कौन नहीं ?''

''बस एक बात ध्यान में रखो कि वीतराग की वाणी वीतरागता की ही पोषक होती है। जिन शास्त्रों में वीतरागता का पोषण हो, वे सच्चे शास्त्र हैं। विषय-कषाय के पोषक, विषय-कषाय में सुख बताने वाले शास्त्र, शास्त्र नहीं; शस्त्र हैं, संसार में डुबोने वाले हैं।''

''तो शास्त्रों के मर्म समझने का सही उपाय क्या है ?''

''शास्त्रों के अर्थ समझने की भी एक शैली है। उसे समझे बिना उनका मर्म समझना सम्भव नहीं है। शास्त्रों में कहीं तो जैसा का तैसा सीधा कथन किया गया है और कहीं निमित्त, सहचर, संयोग की अपेक्षा उपचरित कथन भी किया गया है। दोनों कथनों के भेद को समझना होगा ।''

''लगता है सत्य तो बहुत नीचे दब गया है, खो गया है। उसे खोजना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो गया है।''

''सत्य नहीं, सत्य की खोज खो गई है। सत्य को नहीं सत्य की खोज को खोजना है। खोज की रुचि जागृत हो गई तो सत्य मिलते देर न लगेगी।

कोई व्यक्ति सत्य की शोध-खोज तो करना चाहता नहीं, पका पकाया रेडीमेड माल चाहता है, मेहनत नहीं करना चाहता। यदि सत्य की खोज की तड़फ हमारे हृदय की गहराई से उठे तो उसे पाना असंभव नहीं है, कठिन भी नहीं है। पर मूल बात यह है कि हम उसे किस कीमत पर समझना चाहते हैं ?''

''सत्य समझने में भी कीमत चुकानी होगी ? यहाँ भी भाव-ताव ?''

''हाँ ! हाँ!! कीमत चुकानी होगी, पर रुपयों-पैसों में नहीं; ज्ञान में, रुचि में, यत्न में । हम बिना रुचि, बिना ज्ञान और बिना यत्न के सत्य को पाना चाहते हैं। इस भाव हमें वह कभी भी नहीं मिलेगा ।

मैं पूछता हूँ कि सत्य की खोज की वैसी तड़फ भी हमें कभी हुई है — जैसी तड़फ अमली को अमल की होती है, कामी को विषय की होती है, लोभी

को पैसे की होती है। वह हर कीमत चुकाकर अपनी तड़फ शान्त करना चाहता है। मौत के मुँह में भी जाकर उसे प्राप्त करना चाहता है। क्या ऐसी तड़फ हमें अपने आत्मा को जानने के लिए हुई ? अपने को पहिचानने के लिए हुई ?

मैं तुम्हीं से पूछता हूँ — जितनी इच्छा तुम्हें सन्तान की थी, सन्तान प्राप्ति के लिए तुम कुछ भी करने को तैयार थीं; क्या वह सबकुछ करने की तमन्ना तुम्हें सत्य प्राप्ति के लिए हुई ? यदि नहीं, तो सत्य इतना सस्ता भी नहीं कि सहज समझ में आ जाए।

लौकिक विषयों की प्राप्ति की चिन्ता में, सन्तानादि की प्राप्ति की चिन्ता में हम रात के दो-दो बजे तक जगे हैं। स्वप्न में भी उन्हें कई बार पाया है। क्या कभी तुम्हें इसलिए भी नींद नहीं आई कि 'सत्य समझ में नहीं आया'। क्या कभी सत्यप्राप्ति के भी स्वप्न देखे हैं ?''

''नहीं ।''

''तो तुम्हें सत्य प्राप्त करने की रुचि नहीं है। तुम उसकी कीमत नहीं चुकाना चाहती हो। सत्य तीव्ररुचिवन्त को ही प्राप्त होता है। रुचि उत्पन्न करो, सत्य तुम्हारे सामने खड़ा हो जाएगा ।''

विवेक की थाली की रोटी ठंडी हो गई और रूपमती की तवे पर पड़ी रोटी जल गई। तत्त्वचर्चा के जोश में विवेक खाना और रूपमती खाना बनाना भूल गई।

अब विवेक के घर में ऐसी ही चर्चाएँ प्रतिदिन हुआ करती थीं।

१४

बिना विवेक के श्रद्धा अंधी होती है। गुण-दोष का निर्णय करना विवेक का काम है। श्रद्धा का स्वभाव तो समर्पण का है; जिसके प्रति हो गई, उसके प्रति सर्वस्व समर्पण पर तुल जाती है। विवेकहीन श्रद्धा अस्थान या कुस्थान में लगे तब तो हानि करती ही है; यदि सुस्थान में भी लगे तो भी लाभ नहीं करती, क्योंकि सत्य-असत्य और गुण-दोष का निर्णय करना उसका काम नहीं है।

श्रद्धास्पद के दोष श्रद्धालु को दिखते ही नहीं, अंध श्रद्धा का सबसे बड़ा दोष तो यही है। जिसको देव माना, मान लिया; जिसको गुरु माना, मान लिया; जिसको शास्त्र माना, मान लिया। बस, वह सब ठीक ही हैं उसकी दृष्टि में।

गुण-दोष का निर्णय तो विवेक ही करता है। अत: श्रद्धा विवेकपूर्वक हो तभी सार्थक एवं शुभफलदायी होती है। भाव-भासन बिना जो श्रद्धा होगी, वह अंधी ही होगी।

सहजश्रद्धालु नारी को कोई न कोई श्रद्धेय चाहिए, जहाँ वह अपने श्रद्धासुमन समर्पित कर सके। श्रद्धामयी रूपमती जब तथाकथित देव-गुरु में श्रद्धा कर चुकी थी, तब उनके प्रति समर्पित थी। अब जबकि उसकी आस्था उधर से हटी तो शास्त्रों के प्रति झुक गई। यही कारण है कि वह जिस श्रद्धा के साथ उन तथाकथित देव-गुरुओं की आराधना करती थी, उसीप्रकार बिना किसी विवेक और भेद-भाव के वह शास्त्रों की आराधना में लग गई।

विवेक के बिना जीव जहाँ भी जाएगा, ठगा जाएगा; क्योंकि सत्या-सत्य का निर्णय करना विवेक का काम है। यही कारण है कि विवेक रूपमती के विवेक को जगाना चाहता था।

शास्त्र भी तो अनेक हैं और उनमें अनेक प्रकार के कथन हैं। कौनसा कथन किस अपेक्षा से किया गया है, इसका ज्ञान हुए बिना शास्त्रों के मर्म को समझ

पाना संभव नहीं है। अपेक्षावाद को समझने के लिए विवेक की बहुत आवश्यकता है। **'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के आधार पर चलने से काम नहीं चलता।**

अध्ययनरत रूपमती को छेड़ते हुए विवेक बोला — "आजकल तो तुम्हें स्वाध्याय से फुर्सत ही नहीं मिलती । क्या बात है ?"

ग्रंथ से आँखें ऊपर उठाते हुए रूपमती बोली — "बहुत आनन्द आता है, शास्त्र पढ़ने में। मैं इतने दिन इस आनन्द से व्यर्थ ही वंचित रही। मैं तो समझती थी कि क्या रखा है पढ़ने-लिखने में ? जितने भी पढ़े-लिखे लोग देखे थे, सबको ही आप जैसा नास्तिक मान बैठी थी। मैं नास्तिक बनना नहीं चाहती थी, अतः पढ़ती भी नहीं थी।

जितने भी साधुओं के पास गई - सभी जप, तप, तंत्र-मंत्र, व्रत-उपवास की बातें करते रहे। किसी ने स्वाध्याय करने, शास्त्र पढ़ने की प्रेरणा ही नहीं दी। जैसे ज्ञान का धर्म से कोई ताल्लुक ही न हो।"

नारी जैसी एकनिष्ठता आप अन्यत्र नहीं पा सकते। वह जिस पर रीझ गई सो रीझ गई, वह उसी में तन्मय हो जाती है। रूपमती भी अध्ययन में इतनी तन्मय हो गई थी कि उसे और कुछ दिखाई ही नहीं देता था।

विवेक थोड़े हलके मूड में था। वह गंभीर चर्चा के मूड में न था। वह बात बदलते हुए बोला — "क्यों दूसरों को दोष देती हो कि किसी ने शास्त्र पढ़ने की प्रेरणा नहीं दी ? अपनी गलती को दूसरों के माथे पर मढ़ना चाहती हो ? मैंने तो कई बार कहा, पर तुमने सुना ही नहीं !"

रूपमती हँसते हुए बोली — "धर्म के मामले में तुम्हारी सुनती कैसे ? तुम्हें तो पहले से ही नास्तिक माने बैठी थी। अतः तुम्हारी सलाह पर ध्यान देने का प्रश्न ही कहाँ उठता था?"

"छोड़ो इन बातों को ।" - विवेक बोला — "यह बताओ कि पढ़ने पर कुछ समझ में भी आता है या कोरा आनन्द ही आनन्द ?"

"समझ में क्यों नहीं आता, पर कहीं-कहीं दिमाग चकराने लगता है।"

"क्यों ?"

"क्योंकि कहीं कुछ लिखा मिलता है, कहीं कुछ । समझ नहीं पड़ता कौन कथन सत्य है कौन झूठ?"

"जैसे ?"

"जैसे — एक ही वस्तु को कहीं नित्य लिखा है, कहीं अनित्य; कहीं एक लिखा है कहीं अनेक; कहीं चल लिखा है, कहीं अचल। क्या मानें और क्या नहीं, कुछ समझ में नहीं आता ।"

समझाते हुए विवेक बोला — "वस्तु जैसी है वैसा ही लिखा है। यदि कोई शिकायत है तो वस्तु से करो, लिखने वालों से क्यों ?"

"वस्तु से क्या शिकायत करें ?"

"वह ऐसी क्यों है?"

"वह तो जैसी है, वैसी है; स्वभाव में शिकायत कैसी?"

"फिर उसके वर्णन करने वालों से शिकायत क्यों ?"

"मैंने शिकायत की ही कब है? मैं तो मात्र समझना चाहती हूँ कि जो वस्तु नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकती है, जो चल है वही अचल कैसे हो सकती है ?"

"जो है, उसमें हो सकने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?"

"है — यह कैसे मान लिया जाए ?"

"सुनो ! मैं तुमसे एक प्रश्न करता हूँ।"

"कीजिए।"

"कुम्हार का चलता हुआ चक्र चल रहा है या अचल है?"

"अचल है।"

"सोचकर जवाब दो। मेरा प्रश्न चलते हुए चक्र के बारे में है।"

"अच्छा चल रहा है। अब कहो।"

"चल रहा है तो बताओ किस रफ्तार से चल रहा है ? एक घण्टे में कितने किलोमीटर चला जाएगा ?"

"जाएगा कहाँ ? वह तो अपनी कीली पर चल रहा है।"

"यदि जाएगा नहीं तो 'खड़ा है' — ऐसा कहो न ?"

"खड़ा कैसे कहूँ ? चल जो रहा है, अपनी कीली पर।"

"यही बात तो मैं कह रहा हूँ कि अपनी कीली पर खड़ा भी तो है, एक इंच भी यहाँ-वहाँ नहीं जाता ।"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि अपनी कीली पर चल रहा है और अपनी कीली पर खड़ा भी है।"

"हाँ ! हाँ !! यही तो बात है कि जैसे वह चक्र निरंतर चलकर भी अचल है, और अचल होकर भी निरन्तर चल रहा है; इसमें कोई विरोध नहीं है। वैसे ही प्रत्येक वस्तु चल होकर अचल और अचल होकर चल हो सकती है; नित्य होकर अनित्य, और अनित्य होकर नित्य हो सकती है। हो क्या सकती है, है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है; अतः लिखने वाले ने सही ही लिखा है।"

आश्चर्य व्यक्त करती हुई रूपमती बोली — "बड़ी विचित्र बात है?"

गम्भीरतापूर्वक समझाते हुए विवेक ने कहा — "यह विचित्रता वस्तु के स्वभाव में पड़ी हुई है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणात्मक है तथा प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी नहीं — विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्म-युगल पाये जाते हैं। यही कारण है कि वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा जाता है।"

"आपने बहुत अच्छा समझा दिया । ऐसी गुत्थियाँ आ पड़ने पर मेरा तो दिमाग ही काम नहीं करता ।"

"जब आज तक दिमाग से काम ही नहीं लिया तो वह काम करेगा कैसे? जो वस्तु काम में आती रहती है, वह चमकती रहती है। पर अच्छी से अच्छी वस्तु भी यदि काम में नहीं आती तो उस पर जंग लग जाता है। यदि दिमाग से काम लोगी तो दिमाग अवश्य काम करेगा ।"

"अभी तक तो मैं यही समझती थी कि जानने-मानने से क्या होगा; कुछ करना पड़ेगा, तब धर्म होगा । जिनके पास जाती थी वे भी ऐसी ही बातें करते थे कि दवाई खाने से आराम होता है। दवाई को जानने और ऐसा मानने से कि इससे आराम हो जायेगा, कभी किसी को आराम हुआ भी है? यदि जाने-माने नहीं, तो भी खाने से लाभ मिलेगा । पेट खाने से भरता है, जानने-मानने

से नहीं। मैं भी यही समझकर ज्ञान से विमुख हो क्रियाकाण्ड में ही उलझी रही।"

"जानना क्या 'क्रिया' नहीं है। 'ज्ञान करना' क्या करना नहीं है। ज्ञान करना भी एक काम है। जानना स्वयं क्रिया है, उसे अन्य क्रिया की क्या आवश्यकता है?"

"ज्ञान करने के बाद ही सही, पर कुछ चारित्र का पालन तो करना ही होगा ?"

"क्या कहा, चारित्र ? जड़ की क्रिया का नाम चारित्र नहीं है। पुण्य-पाप की क्रिया का नाम भी चारित्र नहीं है। जिस आत्मा को जाना है, माना है; उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना ही वस्तुतः चारित्र है। स्वयं में लीन हो जाना ही वास्तविक चारित्र है। जिसके अन्तर में यह वास्तविक चारित्र प्रकट हो जाता है, उसकी बाह्य परिणति भी सहज ही शुद्ध होने लगती है। फिर उससे अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती, हो ही नहीं सकती। यदि अनर्गल प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि उसे अभी अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट ही नहीं हुआ है। अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट हो जावे और बाह्य प्रवृत्ति अनर्गल बनी रहे, यह सम्भव ही नहीं है।"

"आप कुछ भी कहो, मनुष्य को चारित्रवान तो होना ही चाहिए।"

"मैं कुछ भी कहूँ ? — तुम ऐसा क्यों कहती हो ? क्या मैं चारित्र का निषेध करता हूँ ? चारित्र तो साक्षात् धर्म है। उसके बिना तो दुःखों से मुक्ति संभव नहीं है। पर चारित्र हो तब न ?

मैं चारित्र का नहीं, चारित्र के नाम पर पनपने वाले पाखण्ड का विरोध करता हूँ। विरोध भी कहाँ करता हूँ ? किससे किया विरोध ? मैं तो सिर्फ धर्म के नाम पर चलने वाले थोथे क्रियाकाण्ड को धर्म नहीं मानता हूँ। मैं किसी का विरोध नहीं करता, मुझे किसी के विरोध से क्या प्रयोजन ? हमें विरोध में नहीं, अविरोध में जाना है। धर्म अविरोध का नाम है, विरोध का नहीं।"

विवेक को गंभीर किन्तु किंचित् उत्तेजित देख सहज संकुचित रूपमती विनम्र होती हुई बोली — "आप तो नाराज हो गये, मैंने तो ऐसे ही कह दिया था।"

"ऐसे ही क्यों ? और मैं नाराज क्यों होऊँगा ? जो बात समझ में न आए — उसे तो पूछना ही चाहिए। बिना पूछे कैसे पता चले ? और जो पूछा है — उसका उत्तर देने में उत्तेजना कैसी ? तुम तो खूब पूछा करो । जिसका उत्तर मुझे आता होगा, दूँगा; नहीं तो चुप रह जाऊँगा ।"

"अच्छा एक प्रश्न पूछूँ ?"

"अवश्य।"

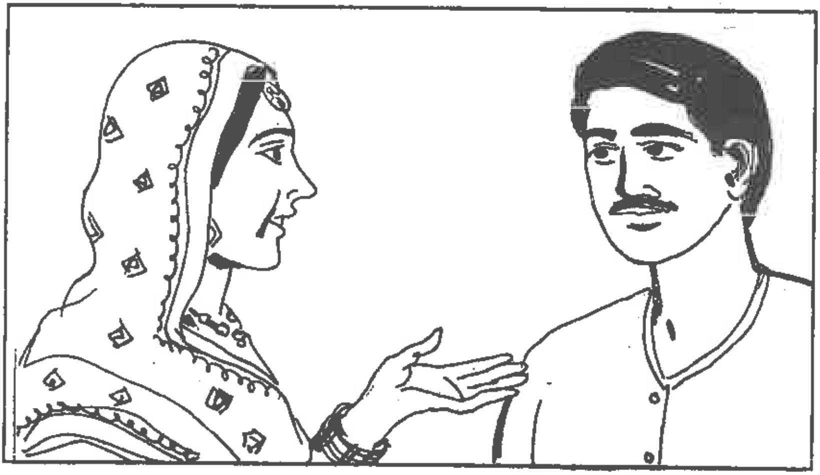

हँसते हुए रूपमती बोली — "तो बताओ आज साग क्या बनाऊँ ? चार बज गए हैं, फिर खाना बनाने में रात हो जाएगी ।"

मुस्कराते हुए विवेक बोला — "यह प्रश्न कौनसा शास्त्र पढ़ते समय समझ में नहीं आया था ?"

"पाकशास्त्र।"

"मैं पाकशास्त्र का विशेषज्ञ नहीं, वह तो मुझे तुमसे पढ़ना होगा।" — कहते हुए विवेक अपने काम में लग गया और रूपमती रसोई की ओर चली गई।

१५

ज्ञान का स्वभाव है तर्क-वितर्क । जब तक कोई भी सिद्धान्त तर्क की तुला पर खरा नहीं उतरता, ज्ञान उसे स्वीकार नहीं कर सकता । यही कारण है कि ज्ञानी परीक्षा-प्रधानी होता है। श्रद्धा के समान ज्ञान किसी बात को सहज स्वीकार नहीं कर लेता । वह प्रत्येक चीज तर्क की कसौटी पर कसता है । जो खरी उतरती है, उसे स्वीकार करता है। जो सिद्धान्त, वस्तु या व्यक्ति परीक्षा बरदाश्त नहीं कर सकता, वह उसे स्वीकार नहीं होता।

इसी परीक्षाप्रधानी दृष्टिकोण के कारण ज्ञानी को बहुत से नासमझ लोग तर्कबाज कहने लगते हैं। इससे उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, किन्तु उसे तर्कबाज मानने वाले अवश्य उसकी बुद्धि की तीक्ष्णता और परीक्षाप्रधानी दृष्टिकोण का लाभ नहीं उठा पाते। स्वयं में इतनी बुद्धि नहीं कि सत्यायत्य का निर्णय कर सकें और जिनके सहयोग से सत्य मार्ग मिल सकता है, उन्हें तर्कबाज आदि मानकर दूर हो जाते हैं।

वे बड़े भाग्यवान हैं — जो या तो स्वयं हिताहित का विवेक रखते हैं, सत्यासत्य का निर्णय करने में स्वयं समर्थ हैं या वे जो ज्ञानियों में श्रद्धा रखकर उनके सहयोग से सत्य का निर्णय करते हैं।

रूपमती की दशा भी पहिले कुछ ऐसी ही थी, दु:खी भी इसी कारण रहती थी। सौभाग्य से उसे विवेक का संयोग प्राप्त हुआ और विवेक के यत्न से उसका विवेक जागृत हुआ।

जब से उसका विवेक जागृत हुआ, तब से वह निरन्तर अध्ययनरत थी। वह मात्र अध्ययन ही नहीं करती, वरन् जो भी बात सामने आनी उसे तर्क की कसौटी पर कसने का पूरा-पूरा यत्न करती । उस पर गंभीरता से विचार करती, पक्ष-विपक्ष की अनेक युक्तियों से पूरी तरह परखती । जिस पक्ष की प्रबल युक्तियाँ होतीं, उसे स्वीकार करती। इतने पर भी जो समझ में नहीं आता, उनके सम्बन्ध में विवेक से खुलकर किन्तु विनयपूर्वक चर्चा करती। उसके द्वारा दिए

गए तर्कों को हँसी में न उड़ाकर उन पर गंभीरता से विचार करती। इसप्रकार की प्रक्रिया से तबतक गुजरती रहती, जबतक चर्चित-वस्तु बिल्कुल स्पष्ट नहीं हो जाती ।

यद्यपि इसप्रकार निरन्तर तत्त्वाभ्यास में रत रूपमती शास्त्रों का मर्म बहुत-कुछ तो स्वयं समझ जाती, तथापि कुछ बातों की तह तक वह नहीं पहुँच पाती और शंकाशील हो उठती; किन्तु जब उसे विवेक अनेक तर्क, युक्तियों और शास्त्रों के आधार देकर समझाता तो वह अनुभव करती कि अहो ! मुझे तो इन सब बातों की कुछ खबर ही न थी। मैं तो प्राप्तपर्याय में ही तन्मय हो, मात्र उतना ही अपने को मान रही थी; पर इस पर्याय की स्थिति तो बहुत थोड़ी है, मैं तो इसके पूर्व भी थी और इस स्त्री-पर्याय के समाप्त हो जाने पर भी रहूँगी - ऐसा मुझे भान ही न था।

मैं मात्र रूपमती स्त्री नहीं हूँ, बल्कि मैं तो अरस, अरूपी ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा हूँ — जो अनादि-अनन्त है, अजर-अमर है, न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। जन्मना-मरना तो पर्याय पलटने को कहते हैं। मैं मात्र पर्याय नहीं हूँ। जिसमें से पर्याय आती है, मैं तो ऐसा त्रैकालिक पदार्थ हूँ।

यहाँ मुझे सर्वानुकूलता प्राप्त हुई है। समझने योग्य बुद्धि है, कषाय की मंदता होने से समझने का उद्यम भी है, विवेक का उपदेश भी पुण्योदय से सहज प्राप्त है। इसलिए मुझे अब जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों को, अपने हितकारी-अहितकारी भावों को, निज-पर के भेद को अच्छी तरह समझना चाहिए। समझना ही क्या चाहिए, निर्णय कर लेना चाहिए कि इन सबकी वास्तविक स्थिति क्या है?

इसप्रकार तत्त्वनिर्णय करने का हृदय में दृढ़ संकल्प करके रूपमती कभी शास्त्रों को पढ़ती, कभी विवेक से सुनती, कभी अभ्यास करती, कभी प्रश्नोत्तर करती, कभी विचार करती, कभी चिन्तन-मनन करती हुई अपना समय व्यतीत करने लगी।

एक बार शास्त्रों का अध्ययन करते समय उसने एक जगह पढ़ा कि **"देखो, तत्त्वविचार की महिमा ! तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति**

करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यग्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होने का अधिकार नहीं; और तत्त्व विचार वाला इनके बिना भी सम्यग्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान का अधिकारी होता है।"

तत्त्वविचार की महिमा जानकर उसकी तत्त्वरुचि और भी अधिक जागृत हो गई। उसने जीवादिक तत्त्वों के नाम सीख लिये, उनकी परिभाषाएँ रट लीं और बड़े गर्व के साथ विवेक से बोली —

"देखो ! मैंने कितना तत्त्वाभ्यास किया है ?"

"बताओ" — विवेक ने कहा ।

रूपमती ने जीवादिक तत्त्वों के नामादि भेद-प्रभेदों सहित एवं परिभाषा सहित सुना दिए ।

विवेक हँसते हुए बोला — "अब तो तुम महापंडित बनती जा रही हो; पर एक बात समझ लो, नाम और परिभाषा रट लेने से आत्मानुभव नहीं होता ।"

"तो कैसे होता है ?"

"भावभासन होने से।"

"भावभासन का क्या मतलब ?"

"जो शास्त्रों में लिखा है, जिसे तुमने पढ़ा है और याद कर लिया है, उसका भाव क्या है ? यह पता चलने का नाम ही भावभासन है।"

"जो नामादिक जानता है, उसे भाव का पता होता ही है?"

"जरूरी नहीं ।"

"क्यों, कैसे ?"

"जैसे आठ वर्ष का बालक जब शृंगारिक नृत्य करता है तो उसमें अनेक काम-चेष्टाएँ भी करता है, पर उनका भाव नहीं जानता है; मात्र अभिनय सीख लिया है। अतः बाह्य में काम-चेष्टाएँ करता हुआ भी काम वेदना से पीड़ित नहीं होता, जबकि उसकी काम-चेष्टाएँ देखकर उनका भाव जानने वाले स्त्री-पुरुष, काम-विकार से पीड़ित हो जाते हैं। यद्यपि वे चेष्टाएँ नहीं कर रहे, तथापि कामुक हो गये हैं; क्योंकि उन्हें तत्सम्बन्धी भाव का भासन हो गया

है; पर बालक को भावभासन न होने से विकार नहीं होता। उसीप्रकार जब तक तत्त्व का वास्तविक भावभासन न हो तबतक तत्त्वाभ्यास की बात करना उक्त बालक जैसा अभिनय ही है।''

''तो क्या नामादिक सीखने और परिभाषाओं के याद करने की कोई उपयोगिता नहीं ?''

''उपयोगिता क्यों नहीं है ? उनकी भी उपयोगिता है, पर एक सीमा तक; क्योंकि नामादिक जाने बिना परीक्षा कैसे करे ? किसी भी वस्तु की परीक्षा करने के पूर्व उनके नाम, परिभाषा, भेद-प्रभेद आदि जानना तो आवश्यक ही है।''

''यह बात है?''

''हाँ ! जीवादिक को जान लेना ही जरूरी नहीं, बल्कि उन्हें इसप्रकार जानना जरूरी है कि जिससे भेद-विज्ञान और वीतरागता की उत्पत्ति हो।''

विवेक और रूपमती इसप्रकार की चर्चा में व्यस्त थे कि अचानक एक घटना घट गई।

सामने एक खूबसूरत औरत का एक्सीडेन्ट हो गया था। चारों ओर से लोग उसे घेरे खड़े थे। पुलिस आ गई थी और भीड़ को घटनास्थल से दूर हटा रही थी। भीड़ की अधिकता से रास्ता पूरा का पूरा रुक गया था। कुछ लोग मृतक को खड़े-खड़े देख रहे थे। कुछ लोग एक्सीडेन्ट करने वाली कार की ओर दौड़कर उस पर टूट पड़े थे। कार के शीशे टूट चुके थे, उसका ड्राइवर अस्पताल पहुँचने जैसी स्थिति में पहुँच चुका था। लोग आपस में चर्चा कर रहे थे।

कोई कह रहा था — ''यदि इसे तत्काल अस्पताल पहुँचाया जाता तो बच सकती थी; पर किसे परवाह है किसी की ? कुचलने वाला तो कुचलकर ···। सब खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे। किसी ने भी···।''

दूसरा बात काटते हुए बोला — ''अरे ! कोई हाथ लगा कर क्यों झंझट में पड़े, गवाई-सफाई देता फिरे — पुलिस में, अदालतों में ·····।''

दार्शनिक-सा लगने वाला तीसरा बोला —

''भाई ! सभी को एक दिन मरना ही है, आज नहीं तो कल।''

नेताटाइप चौथा व्यक्ति उसकी बात काटते हुए कहने लगा —

"भाई ! मरना एक बात है और बेमौत मरना दूसरी बात । यह स्वतन्त्र भारत है, स्वतन्त्र ।"

दार्शनिक-सा लगने वाला व्यक्ति गम्भीर होकर कहने लगा —

"मौत-बेमौत क्या होता है ? जब जिसकी आ जाए तभी मरता है, और जिसको जिस निमित्त से मरना हो उसी निमित्त से मरता है। कोई रोग से मरता है, कोई एक्सीडेन्ट से । कोई बीस बरस की उम्र में मरता है, कोई पचास की में । बीस की में मरा तो बेमौत, और पचास की में मरा तो मौत से; एक्सीडेन्ट से मरा तो बेमौत और रोग से मरा तो मौत से; हट्टा-कट्टा मरा तो बेमौत और सड़-गल कर मरा तो मौत से। क्या हिसाब है मौत-बेमौत का ?"

कोई मनचला बीच में ही बोल उठा — "कुछ भी हो, है औरत खूबसूरत, देखो तो क्या जिस्म पाया है? क्या गोरी-गोरी बाहें हैं ?"

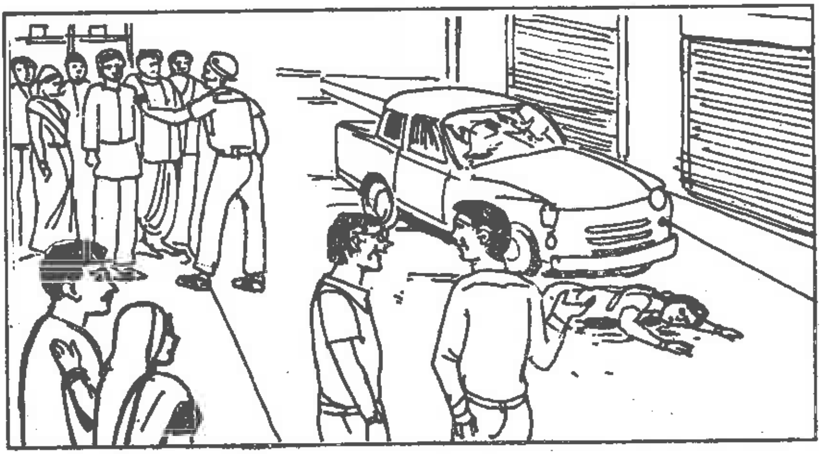

उसे डाँटते हुए कोई भावुक-हृदय कह रहा था —

"किसी का घर उजड़ गया, बच्चे माँ-विहीन हो गये और तुम्हें गोरी-गोरी बाँहें दिख रही हैं। जरा समय देखकर बात किया करो, भाई!"

मनचला बोला — "तू क्या जाने बुड्ढे ? यह बड़ी तेज थी । इसका धंधा खूब चलता था।"

हल्ला-गुल्ला बढ़ते देख पुलिस वाले ने आकर मनचले को धक्का दिया और बोला —

"क्या मजमा जमा लिया है, चलो यहाँ से। सड़क क्यों रोक रखी है? ऐसा तो रोजाना ही होता रहता है। इसमें भीड़ लगाने की क्या बात है?"

रूपमती और विवेक भी कोलाहल सुनकर वहाँ पहुँच गए थे और तटस्थ भाव से सब कुछ देख-सुन रहे थे। पुलिस वाले की फटकार सुनकर भीड़ बिखरने लगी। वे दोनों भी अपने घर आ गए।

दुर्घटना के कारण बीच में टूटी चर्चा फिर चल पड़ी। बात आगे बढ़ाते हुए विवेक बोला — "देखो न ! एक ही घटना को अनेक लोग अनेक दृष्टियों से देख रहे थे। दुर्घटनाग्रस्त मृत महिला में कामी को सुन्दरता, राजनैतिक को सरकारी अव्यवस्था, परोपकारी को उपचार की आवश्यकता और दार्शनिक को मौत की अनिवार्यता तथा भावुक-हृदय व्यक्ति को उजड़ा घर और बिलखते बच्चे दिखाई दे रहे थे ।

प्रत्येक चीज को देखने का, प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना एक अलग दृष्टिकोण होता है। इसीप्रकार जीव-अजीवादि पदार्थों को देखने का आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह है कि उनमें परस्पर भेद जाना जाए। उनमें परस्पर क्या अंतर है ? यह जानना महत्त्व की बात है। साथ ही उनके संबंध में विचार भी इसप्रकार होना चाहिए कि जिससे वीतरागता उत्पन्न हो। **विभिन्न पदार्थों की एकता का ज्ञान और रागद्वेषोत्पादक विचार न तो वास्तविक तत्त्वज्ञान है और न तत्त्वविचार । भेद-विज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और वीतरागता ही वास्तविक चारित्र ।**

विनम्र शिष्य की भाँति जिज्ञासु रूपमती बोली — भेद-विज्ञान क्या है और वीतरागता किसे कहते हैं ?"

बात को टालते हुए विवेक कहने लगा — "तुम तो एक दिन में ही सब कुछ समझ लेना चाहती हो । तुम्हें यह भी पता है कि चार बज गये हैं। क्या आज एकासन ही कराओगी?"

घबड़ाती-सी उठती हुई रूपमती बोली — "चार ! मुझे तो ध्यान ही न रहा।"

रूपमती के रसोई के काम में लग जाने पर विवेक बाथरूम की ओर चल पड़ा।

१६

रुचि ध्यान की नियामक है। जीव की रुचि जिस ओर लग जाती है, उसका ध्यान सहज ही बार-बार उसी ओर जाता है। प्रत्येक जीव के ध्यान का केन्द्र-बिन्दु वही वस्तु बनी रहती है, जो उसे रुचिकर होती है।

रूपमती का ध्यान भी बार-बार तत्त्वविचार, चर्चा-वार्त्ता की ओर ही जाता था; क्योंकि उसे इस ओर की रुचि जागृत हो गई थी।

नया मुल्ला जोर से बाँग देता है। रूपमती की भी स्थिति अभी नये मुल्ला जैसी ही थी। यद्यपि उसके कदम सही दिशा में ही उठ रहे थे, तथापि उनमें स्वभाविकता नहीं आ पाई थी। उस ही की क्या, प्रत्येक नए तत्त्व-जिज्ञासु की यही दशा होती है।

जब से विवेक ने यह कहा था कि भेद-विज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और वीतरागता ही वास्तविक चारित्र, तभी से उसके दिमाग में ये दोनों शब्द ही चक्कर काट रहे थे 'वीतरागता और भेद-विज्ञान — भेद-विज्ञान और वीतरागता।' - इसी विचार-चक्र में उलझी हुई वह रात को अच्छी तरह सो भी न सकी थी।

क्या है वीतरागता और किसे कहते हैं भेद-विज्ञान ? - इन दो प्रश्नों ने उसके अन्तर को मथ डाला था।

विवेक ने भी जानबूझकर इन प्रश्नों को उठाकर अनुत्तरित छोड़ दिया था। एक तो समय भी नहीं था; दूसरे वह चाहता था कि रूपमती को इनके बारे में जानने की तीव्रतम जिज्ञासा तो जगे; क्योंकि बिना तीव्रतम जिज्ञासा के इन प्रश्नों का उत्तर पाना संभव नहीं है।

वैसे तो अन्तर की लगन के बिना कोई भी कार्य सम्भव नहीं होता, किन्तु भेद-विज्ञान और वीतरागता जैसे गम्भीर तात्त्विक विषयों को समझने के लिए तो अन्तर की तड़प चाहिए, क्योंकि इनके उत्तर अन्तर से आते हैं; बाहर से नहीं।

समझने वाले की अन्तर से पात्रता पके बिना दूसरा कितना ही समझाने का यत्न करे, इन गुत्थियों का सुलझना सम्भव नहीं — इस तथ्य से वह भली-भाँति परिचित था । अतः उसने भेद-विज्ञान और वीतरागता की बात जिज्ञासोत्पादक ढंग से कह, जिज्ञासा उत्पन्न कर विषय समाप्त कर दिया था। वह यह भी चाहता था कि ये प्रश्न रूपमती के चित्त में समा जावें । उनके उत्तर जानने की तीव्रतम आतुरता उसके हृदय में उत्पन्न हो।

जिसप्रकार खाद से युक्त जुते हुए तैयार खेत में डाला गया बीज यथासमय शीघ्र उगता है, बढ़ता है, फलता है और पूर्णता को प्राप्त होता है; उसीप्रकार पात्र जिज्ञासु जीव को दिया गया तत्त्वोपदेश ऊसर भूमि में पड़े हुए बीज के समान व्यर्थ नहीं जाता, सार्थक और सफल होता है।

यही विचार कर विवेक ने रूपमती को भेद-विज्ञान और वीतरागता के बारे में सामान्य बात कह कर बात समाप्त कर दी थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त हो वे चर्चा करने बैठे तो रूपमती ने बड़ी ही तीव्रता से किन्तु विनयपूर्वक यही प्रश्न उठाया। उसकी जिज्ञासा, समझने की आतुरता; मात्र शब्दों में ही नहीं, उसके चेहरे पर भी स्पष्ट देखी जा सकती थी।

विवेक ने देखा कि रूपमती अब मानसिक दृष्टि से तत्त्व की मूल बात समझने की स्थिति में है, तो उसने इसप्रकार कहना आरम्भ किया —

"यद्यपि पदार्थों के बीच का अन्तर जानना भेद-विज्ञान है, तथापि जिन पदार्थों के बीच भेद-विज्ञान किया जा रहा है, उनमें एक निज-तत्त्व होना आवश्यक है। यही कारण कि है भेद-विज्ञान को स्वपर-विवेक भी कहते हैं।

स्व और पर के बीच का भेद जानना वास्तविक भेद-विज्ञान है — मात्र दो पदार्थों के बीच का अन्तर जानना नहीं ।"

"क्या मतलब?"

"मतलब यह है कि जिन दो पदार्थों के बीच भेद जाना जा रहा है, यदि उनमें एक पार्टी स्वयं हो तो बात और होती है और दोनों पार्टी थर्ड परसन हों तो बात अलग। जिसप्रकार रूस और चीन के बीच सीमाविवाद के होने

और भारत और चीन के बीच सीमाविवाद के होने में हमारे लिए बहुत अन्तर पड़ता है; क्योंकि हम भारतीय हैं। अत: जब चीन और भारत के बीच सीमाविवाद होता है तो हम प्रभावित होते हैं; किन्तु जब चीन और रूस के बीच हो तो हम प्रभावित नहीं होते या कम प्रभावित होते हैं। इसीप्रकार यदि हमने निज और पर के बीच की सीमा ठीक से नहीं पहिचानी तो पर को निज और निज को पर मान सकते हैं — जो कि आत्महित में बाधक है, मिथ्यात्व है; किन्तु यदि हमने दो पर-पदार्थों के बीच का बारीक भेद नहीं भी जान पाया तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अत: भेदविज्ञान निज और पर के बीच किया जाता है, दो पर-पदार्थों के बीच नहीं।"

"अब समझी कि निज और पर को भिन्न-भिन्न जानना ही भेद-विज्ञान है।"

"ठीक, पर इसमें कुछ और भी रहस्य है।"

"वह क्या ?"

"यही कि मात्र निज और पर के बीच की सीमा-रेखा जानना भेद-विज्ञान नहीं; बल्कि पर से भिन्न निज को जानना ही भेद-विज्ञान का रहस्य है।"

"पर से भिन्न निज को जानने से क्या मतलब? क्या पर को नहीं जानना है; मात्र पर से भिन्न निज को जानना है?

"पर को जानना है, पर उसे मात्र जानना — उसमें जमना नहीं, रमना नहीं, उसमें डटना नहीं; उससे हटना है। जबकि निज को जानकर उसमें जमना भी है; रमना भी है, उसी में समा जाना है। अपने में ही समा जाना भेद-विज्ञान का फल है। पर को भी जानना है, पर उसकी गहराई में नहीं जाना है। निज को जानना भी है और उसकी गहराई में भी जाना है।"

"क्यों ?"

"क्योंकि पर को जानना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। निज को जानना, मानना, निज में ही जमना, रमना आत्मार्थी का मूल प्रयोजन है। पर को तो मात्र इसलिए जानना है कि पर को निज न मान लिया जाए। अत: निज को तो निज को जानने के लिए जानना ही है, परन्तु पर को भी निज को जानने

के लिए जानना है। निज को जानना मूल प्रयोजन है, क्योंकि निज को जानने में ही अपना हित है। पर को, जानो तो ठीक, न जानो तो ठीक। जब आत्मा का 'जानना' स्वभाव है तो पर भी जानने में आ ही जाता है।

जिसप्रकार रामायण लिखने वाले कवि का उद्देश्य रामकथा लिखना है, केवटकथा नहीं; पर जब रामकथा कहते हैं तो बीच में केवट की बात आती ही है। जिसप्रकार रामकथा मूल कथ्य है और केवटकथा प्रासंगिक; उसीप्रकार आत्मार्थी का मूलज्ञेय निजात्मा है, शेष सब प्रासंगिक ।"

कृत्रिम रोष व्यक्त करती हुई रूपमती बोली —

"आप तो साहित्यिक भाषा में बोलने लगे । मेरी समझ में तो कुछ नहीं आया। हमें तो सीधीसादी भाषा में बताइये।"

"सुनो — एक पण्डितजी एक सभा में रामकथा सुना रहे थे। वे कह रहे थे — राम, लक्ष्मण और सीता के साथ वन जा रहे थे। रास्ते में आई नदी, उसे नाव से पार करना था। केवट अपनी मजदूरी लेकर यात्रियों को पार उतार रहा था। जब राम नाव में बैठने लगे तो उसने रोक दिया। बोला — 'जबतक आपके चरण नहीं धो लूँगा, तबतक नाव में नहीं बैठने दूँगा ।' कारण पूछने पर उसने बताया कि मैंने सुना है कि आपकी चरण-धूलि बड़ी खतरनाक है। एक पत्थर की शिला पर पड़ गई तो वह नारी बन गई। कहीं मेरी नाव भी आपकी चरण-धूलि के स्पर्श से नारी बन गई तो इस मँहगाई के जमाने में मेरा क्या होगा? एक तो नाव नष्ट हो जाने से आजीविका-भ्रष्ट हो जाऊँगा, दूसरे घर में दो पत्नियाँ हो जाने से खर्च बढ़ जाएगा।"

"तो क्या सचमुच शिला स्त्री हो गई थी ?" — रूपमती बोली।

"कैसी बातें करती हो, क्या तुमने रामायण नहीं पढ़ी ? उसमें यह कथानक आता है न कि गौतमऋषि की पत्नी अहिल्या का — जो कि शापग्रस्त होने से शिला बन गई थी — राम के चरणस्पर्श से उद्धार हो गया था। उसी के आधार पर उसमें यह चर्चा आई है। इसमें सच-झूठ का प्रश्न ही कहाँ उठता है? मैं तो उक्त कथानक का उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट कर रहा हूँ। कहीं उदाहरण पर भी बहस की जाती है ? वे तो कहीं से भी लिये जा सकते हैं।"

"अच्छा-अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?" — रूपमती बात को आगे बढ़ाती हुई बोली ।

उसे तो कथानक में रस आ रहा था। बीच में टोक देने से बात बदल गई थी, उसे लाइन पर लाने के लिए ही उसने कहा था।

विवेक भी कथा को आगे बढ़ाते हुए कहने लगा — "हुआ क्या? केवट ने राम को तभी नाव पर चढ़ने दिया जब पैर धो लिए ।"

"राम हार गये और केवट जीत गया ?"

"कैसी मूर्खता की बात करती हो, वहाँ हार-जीत का प्रश्न कहाँ था ? कवि को राम की महिमा बतानी थी, जिसके लिए उसने यह शैली अपनाई।"

"अच्छा तो यह बात थी !"

"हाँ, फिर रामकथा सुनाते हुए पण्डितजी कहने लगे — 'उसके बाद राम चित्रकूट में पहुँचे और वहाँ · · ·।'

बीच में ही टोकते हुए एक श्रोता बोला — 'फिर उस केवट का क्या हुआ?'

पण्डितजी शांत भाव से बोले — 'भाई ! मैं रामकथा सुनाने आया हूँ, केवटकथा नहीं । और तुम भी तो रामकथा सुनने आए हो। तुम्हें आगे राम के बारे में जिज्ञासा क्यों नहीं हुई ? केवट के बारे में क्यों हुई ? लगता है तुम राम भगत नहीं, केवट भगत हो। राम भगत को अगला प्रश्न राम के बारे में उठाना चाहिए, क्योंकि उसकी रुचि राम में है। केवट की कथा राम की महिमा बताने के लिए बीच में आई थी, चली गई। उससे हमें क्या, तुम्हें भी क्या ?

रामकथा के बीच तो केवट जैसे अनेक प्रासंगिक पात्र आवेंगे। यदि प्रत्येक की पूरी कथा सुनाने लग जाएँ तो हो ली रामकथा ! अत: उसकी कथा इतनी ही काफी है।'

ऐसा कहकर पण्डितजी आगे की रामकथा सुनाने लगे ।"

विवेक ने रामकथा के उदाहरण को सिद्धान्त पर घटित करते हुए कहा—

"जिसप्रकार राम के भगत का मूल प्रयोजन रामकथा है, उसीप्रकार आत्मार्थी का अपने आत्मा को जानना, पहिचानना मूल प्रयोजन है। उसके

जानने के लिए जो और जितना अन्य पदार्थों को जानना आवश्यक है, वह उन्हें भी जानता है; पर उनकी डिटेल्स में जाने की विशेष आवश्यकता नहीं समझता, उनमें उलझता नहीं। सामान्य रीति से उन्हें जान लेना बुरा नहीं, पर उनमें उलझना कदापि ठीक नहीं।

इसीलिए मैंने कहा था कि — पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेद-विज्ञान है।"

"अब तो बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई" — संतोष व्यक्त करते हुए रूपमती बोली ।

"हो तो गई" — विवेक ने कहा - "पर एक बात और भी है।"

"क्या ?"

"अपने को मात्र जानना ही नहीं, पहिचानना भी है।"

"जानने और पहिचानने में क्या अन्तर है?"

"पहिचानने में जो गहराई है, वह जानने में कहाँ ? जानना सामान्य जानकारी है और पहिचानने में श्रद्धान भी शामिल है। वस्तुतः सम्यक्‌श्रद्धान ही सच्ची पहिचान है।

बहुत से लोग शास्त्रों में से आत्मा-परमात्मा की चर्चा सीख लेते हैं; सीख क्या लेते हैं — रट लेते हैं और तोते की भाँति बोल जाते हैं कि — 'आत्मा ऐसा है, आत्मा वैसा है', पर उसका भाव उन्हें भासित नहीं होता ।

वे आत्मा की बातें भी ऐसे करते हैं जैसे औरों की बातें कर रहे हों, जैसे उन्हें उससे कोई लेना-देना ही नहीं हो। भेद-ज्ञान की चर्चा भी इसीप्रकार करते हैं, जैसे औरों से औरों को भिन्न बता रहे हों। यह अनुभव नहीं करते कि मैं आत्मा हूँ, पर-पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, उन सब पदार्थों से भिन्न एक अखण्ड-अनन्त, चिन्मात्रज्योति, अनादि-अनंत, ज्ञानानंद-स्वभावी, त्रैकालिक आत्मतत्त्व मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं।

जब-जब आत्मा की चर्चा चलती है तो वे यह अनुभव नहीं करते कि यह मेरी चर्चा चल रही है, उल्टी अरुचि व्यक्त करते हैं। कहते हैं — 'क्या आत्मा-फात्मा की बात चला रखी है, अच्छी बात करो न।' जैसे कि यह आत्मा की बात तो अच्छी होती ही नहीं । तभी तो कहते हैं कि और अच्छी बात करो न।"

गद्गद रूपमती बीच में ही बोली — "औरों की क्या कहें, मैं ही तो ऐसी बातें करती थी; आत्मचर्चा को व्यर्थ की माथापच्ची समझती थी। फालतू लोगों का काम मानती थी। यह सब महा अपराध मैंने भी तो किये हैं?"

समझाते हुए विवेक कहता है — "मैं भी औरों की बात कहाँ कर रहा हूँ, मैं भी तो अपनी अज्ञान दशा की बात ही कर रहा हूँ। प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान दशा में ऐसी ही बातें करता है। न करे तो अज्ञान कायम कैसे रहे ?

उसे आत्मा के प्रति अनंत क्रोध रहता है न ! अरोचकभाव का नाम ही तो क्रोध है। आत्मा के प्रति अरुचि ही अनन्त क्रोध है। यदि उसे आत्मा के प्रति अरुचि न होती तो ऐसी बात ही क्यों करता — 'कि छोड़ो आत्मा-फात्मा की बात ।' देखो ! आत्मा के साथ फात्मा जोड़ता है ।

आत्मा की चर्चा औरों की चर्चा मानता है, इसीलिए अरुचि बताता है; यदि उसे उसमें अपनत्व आ जाए, उससे एकत्व स्थापित हो जाए तो फिर उसे यही चर्चा अच्छी लगने लगेगी।

जिसप्रकार वह वर्त्तमान में अपने को सेठ, पंडित, नेता आदि कुछ-न-कुछ मानता है। जो भी वर्त्तमान पर्याय में उसका नाम है — यदि उसी चर्चा चले, प्रशंसा हो, तो रात भर भी सुनता रहेगा, ऊबेगा नहीं। चाहेगा, यह तो चलता ही रहे; क्योंकि देह में, पर्याय में, पाण्डित्य में, सेठाई में, नेतागिरी में अपनत्व स्थापित कर रखा है, एकत्व मान रखा है; अतः उसकी चर्चा सुहाती है। उसीप्रकार जब आत्मा में एकत्व आ जाएगा, तब उसे आत्मा-आत्मा ही सर्वत्र दिखेगा।

आत्म-रुचिवान आत्मार्थी-जीव निज को तो निज को जानने के लिए जानता ही है, परन्तु पर को भी जितना जानना चाहता है, उसके मूल में भी आत्मा के विभावादि को जानना ही रहता है।"

गम्भीरतापूर्वक सुझाव देती हुई रूपमती बोली —

"यदि कुछ ऐसा उपाय किया जाए कि उन्हें तत्त्व की बात सुननी ही पड़े, बिना सुने कोई चारा न रहे तो शायद वे भी रास्ते पर आ सकते हैं।"

"कैसी बातें करती हो ? ऐसा तो कई बार होता है कि उन्हें भी प्रसंगवश ये बातें सुनने को मिल जाती हैं, पर वे रुचिपूर्वक ध्यान से सुनें तब न ?

प्रथम तो वे स्वयं ऐसी बातों से दूर रहते हैं और प्रसंगवश सुनना पड़े तो ऐसे सुनते हैं जैसे एरण्डी का तेल पीकर बैठे हों, प्रसन्नचित से नहीं सुनते । जबतक कोई भी व्यक्ति ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की बात प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित से नहीं सुनेगा; तबतक उनकी समझ में आना संभव नहीं है। ऐसे लोग सुनते समय या तो रस लेंगे ही नहीं, लेंगे तो उदाहरणों में रस लेंगे या फिर अपनी मात्र प्रशंसा को सुनना चाहेंगे। उनकी चर्चा निकले, प्रशंसा हो तो गद्‌गद हो जावेंगे; पर तत्त्वचर्चा उनके हृदय को गुदगुदाती नहीं।

कितनी ही महत्त्वपूर्ण तत्त्वचर्चा निकले, जो उन्होंने कभी सुनी भी न हो; पर अपनी पण्डिताई के गर्व में उसके प्रति प्रसन्नता व्यक्त नहीं करेंगे। पर यदि कोई दानी एक लाख रुपये के दान की घोषणा करे तो तालियाँ पीटने लगेंगे। अतः जबतक अन्तर में सच्ची तत्त्वजिज्ञासा न जगे, किसी को मार-मारकर मुल्ला नहीं बनाया जा सकता।''

''तो फिर आप तत्त्वोपदेश देते ही क्यों हो? आचार्यों ने क्यों दिया उपदेश ? यदि उपदेश से कुछ नहीं होता तो फिर यह तत्त्वचर्चा भी बेकार ही है ?''

''बेकार क्यों है? ज्ञानियों को उनके लिए नहीं, तत्त्वजिज्ञासु पात्रजीवों के हितार्थ उपदेश देने का भाव आता है।''

''एकान्त में दे दिया करें उन्हें उपदेश । आम सभा में तो जिज्ञासु बहुत कम होते हैं?''

''कम ही सही ! सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं होती । जौहरी अधिक ग्राहकों की चिन्ता नहीं करता, उसके लिए एक-दो ग्राहक ही बहुत हैं। जवाहरात के ग्राहक कम हैं तो क्या जौहरी बाजार में ही न बैठे? यह कहाँ की बात कही ? बाजार में तो बैठना ही पड़ता है, चाहे ग्राहकी कम हो या अधिक। इसीप्रकार उपदेश तो सभा में ही होता है, चर्चा भले ही घर में हो जाए। दूसरी बात यह भी तो है कि न मालूम कौन जिज्ञासु कहाँ बैठा हो ? जब हमें बोलने का भाव आता है तो अवश्य ही इस बात को समझने वाले कुछ न कुछ लोग रहते ही होंगे।''

असन्तुष्ट-सी रूपमती बोली — "आप कुछ भी कहो, पर मैं तो यही कहूँगी कि आमसभाओं की चक्करबाजी आप समाप्त ही करो । क्यों व्यर्थ ही गला खराब करते हो ? कितने लोग हैं आज की इस भौतिकवादी दुनिया में जो तत्त्व की बात समझते हैं या समझना चाहते हैं ? कौन सुनता है इस दुनिया के नक्कारखाने में तुम्हारी इस तूती की आवाज को ?"

गम्भीर विवेक बोला — "तुम ठीक कहती हो रूपमती । पर एक बात यह भी तो है कि क्या हमारे लिए यह कम है कि हम इस भोगभरी दुनियाँ में डंके की चोट तत्त्व की बात कहते तो हैं ?

सुनो — एक बार सागर ने बड़वाग्नि से कहा कि तुम क्यों मेरे पेट में व्यर्थ ही जलती हो, क्या कर लिया आज तक जलकर तुमने ? क्या मुझे कमकर पाया ? यदि नहीं तो तुम्हारे जलते रहने से क्या लाभ है?

बड़वाग्नि ने मुस्कराते हुए, पर गंभीरता से उत्तर दिया — यह सही है कि मैं तुम्हें सुखा नहीं पाई, पर तुम्हें मालूम नहीं कि जलती हुई चूल्हे की आग एक लोटा पानी से बुझ जाती है, जठराग्नि भी घृतादि पदार्थों से शान्त हो जाती है; पर मेरे ऊपर समुद्रों पानी अनन्तकाल से पड़ा है, उसके बाद भी मैं बुझी नहीं, जल रही हूँ। मेरी शक्ति और सत्ता के लिए क्या इतना कम है? दूसरे तुम देखते नहीं, जब नदियों में बाढ़ आती है तो गाँव के गाँव बह जाते हैं, यदि सागर में बाढ़ आजाए तो क्या हो ? कितना विनाश हो ? तुम्हें पता है कि सागर में बाढ़ क्यों नहीं आती ? इसलिए कि उसके पेट में मैं निरन्तर जलती रहती हूँ, उसे सीमा में रखती हूँ। मेरे लिए आज तक भले ही यह संभव न हुआ हो कि मैं तुझे सुखा सकूँ या कम कर सकूँ, पर तुझे सीमा तो नहीं तोड़ने दी। जगत के प्रति मेरा यह उपकार क्या कम है? तेरे जैसे उद्दण्ड को अनन्तकाल तक सीमा में बांधे रखना अपने आप में ही एक बड़ी उपलब्धि है?"

बीच में ही रूपमती बोली — "तुम सागर और बड़वाग्नि की बात कह कर कहना क्या चाहते हो ?"

"यही कि भौतिकवादी भोग के सागर के बीच हम बड़वाग्नि के समान जल रहे हैं, डंके की चोट आत्मा की चर्चा कर रहे हैं, हजारों की भीड़ में

आत्मा का प्रतिपादन कर रहे हैं। क्या हमारी शक्ति और सत्ता के लिए इतना काफी नहीं है? तथा भोग के सागर में आने वाली बाढ़ को भी हमारी इस अध्यात्मधारा ही ने रोक रखा है, अन्यथा न जाने यह दुनिया इसमें कब की बह गई होती !

हमारी अध्यात्म चर्चा निरर्थक नहीं, पूर्ण सार्थक है। जगत में जो कुछ भी श्रेय विद्यमान है, अच्छाइयाँ कायम हैं, वे सब इसी अध्यात्मधारा के अविरलप्रवाह का ही परिणाम हैं ।''

सन्तुष्ट होती हुई रूपमती बोली — ''आप ठीक कहते हैं ।''

इतने में ही बाहर से किसी ने विवेककुमार को आवाज दी। वह उधर चला गया और रूपमती चर्चित-चर्चा पर विचार करती हुई गृहकार्य में संलग्न हो गई।

अतः विषय-कषाय, व्यापार-धन्धा और व्यर्थ के वादविवादों से समय निकालकर वीतरागवाणी का अध्ययन करो, मनन करो, चिन्तन करो, बन सके तो दूसरो को भी पढ़ाओ, पढ़ने की प्रेरणा दो, इसे जन-जन तक पहुँचाओ, घर-घर में बसाओ। स्वयं न कर सको तो यह काम करनेवालों को सहयोग अवश्य करो। वह भी न कर सको तो कम से कम इस भले काम की अनुमोदना ही करो। बुरी होनहार से यह भी संभव न हो तो कम से कम इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। इन काम में लगे लोगों की टाँग तो मत खींचो! इसके अध्ययन, मनन को निरर्थक तो मत बताओ, इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ । यदि आप इस महान् कार्य को नहीं कर सकते, करने के लिए लोगों को प्रेरणा नहीं दे सकते, तो कम से कम इस कार्य में लगे लोगों को निरुत्साहित तो मत करो, उनकी खिल्ली तो मत उड़ाओ । आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा ।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १७५

१७

जब किसी व्यक्ति को कहीं से अधिक लाभ की आशा बँध जाती है तो उसका चिन्तन प्राय: उसी दिशा में चलता रहता है। तदर्थ वह नई-नई योजनाएँ बनाता है। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए हर संभव प्रयत्न करता है। यदि उसमें विघ्न देखता है तो उन्हें दूर करने का यत्न भी करता है और जबतक सफलता नहीं मिलती, उस दिशा में सक्रिय बना ही रहता है।

महात्माजी ने भी विवेक को प्रभावित करने के लिए पूरा-पूरा प्रबंध कर लिया था, किन्तु जब निश्चित समय पर विवेक और रूपमती नहीं आये तो उन्हें कुछ आशंका-सी हुई कि उस दिन की बातों से उनको हमारी सर्वज्ञता एवं सर्वशक्ति-सम्पन्नता में शंका हो गई लगती है।

इसके लिए उन्होंने अपने विश्वस्त व्यक्तियों से धर्मशाला में उनकी तलाश कराई और जब पता चला कि वे तो घर चले गये हैं, तब अनेक तरह के विचार उनके मन में उठने लगे।

यद्यपि उन्होंने अपने मन को बहुत समझाया कि गये तो जाने दो, और बहुत से आ जायेंगे, उनकी क्या चिन्ता करना; इस संसार में 'आँख के अन्धे और गाँठ के पूरों' की कमी नहीं है, तथापि उनका मन माना नहीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने एक विश्वस्त व्यक्ति को विदिशा भेजकर उनकी वर्त्तमान स्थिति की समस्त एवं विस्तृत जानकारी मँगाने का निश्चय किया।

जब महात्माजी को अपने विश्वस्त व्यक्ति से पता चला कि विवेक तो वहाँ का एक आध्यात्मिक प्रवक्ता के रूप में प्रसिद्ध व प्रतिष्ठित व्यापारी है तथा न्यायोपार्जित सहज आजीविका से जो भी समय बचता है, उसे वह आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं तत्त्वचर्चा में ही बिताता है। मन्दिर में होने वाले सामूहिक स्वाध्याय में प्रवचन भी वही करता है। उसकी तार्किक किन्तु सरल, सुबोध एवं आकर्षक प्रवचन शैली से सारा समाज

प्रभावित है। परिणामस्वरूप समाज में से अंधविश्वास और कुरूढ़ियाँ हटती जा रही हैं, धार्मिक दृष्टि से समाज जागृत हो रहा है, और यही क्रम कुछ दिनों बना रहा तो समाज निश्चित ही रूढ़ि–विमुक्त एवं काफी जागरूक हो जाएगा।

उसकी धर्मपत्नी जो कि स्वयं अंधश्रद्धालु थी, आज विवेक का अनुसरण कर रही है; उसका भी विवेक जागृत हो गया है। न उसे अब संतान की चाह ही रही है और न पति से भी कोई शिकायत। अब तो उसे आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं तत्त्वचर्चा के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं है। उनके घर में पूर्ण शान्ति है।

रूपमती के प्रभाव एवं प्रयत्नों से वहाँ की महिलाओं में भी जागृति उत्पन्न हो रही है और एक रूढ़ि–विमुक्त, आध्यात्मिक वातावरण बनता जा रहा है।

उक्त जानकारी प्राप्त कर बाबाजी एकदम विषण्ण–मुख हो गये। उनके माथे पर बल पड़ गये। वे सोचने लगे कि यह सब ऐसे ही चलता रहा तो फिर हमें कौन पूछेगा? यह आग आज एक गाँव में लगी है, कल गाँव–गाँव में फैलेगी। एक दिन सारा समाज, सारी दुनिया इसकी लपेट में आ जावेगी । यदि शीघ्र ही इन्तजाम नहीं किया गया तो···!

न जाने वे कब तक इसीप्रकार स्तब्ध सोचते रहे । वे बहुत गम्भीर हो गये और उन्होंने समाचार लाने वाले से पूछा — "और भी कुछ समाचार हैं?"

"नहीं महाराज !" — धीरे से उसने कहा ।

"क्या तुमने वहाँ ऐसे कोई व्यक्ति नहीं देखे जो उसे और उसके कार्यों को नापसन्द करते हों ?"

"ऐसे तो कोई नहीं दिखे।"

"ऐसा हो नहीं सकता" - उत्तेजित होते हुए महाराज बोले। - "तुमने लोगों के दिलों में प्रवेश करके यह बात जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। ऊपर से तो सभी प्रवाह में बहते हैं, पर अन्दर–अन्दर···।"

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वह बोला — "वे ऐसी कोई बात ही नहीं करते, जिससे किसी को बुरा लगे। किसी की आलोचना तो उनके प्रवचनों में कभी होती ही नहीं। वे तो अपनी बात—आत्मा की बात — शान्तभाव से सीधी

सरल भाषा में करते हैं; अत: वे एक तरह से अजातशत्रु ही हैं। उनसे शत्रुता कोई करे तो कैसे? और क्यों करे? जबकि वे सबका भला चाहते हैं।''

झल्लाकर महाराज बोले — ''तुम कुछ समझते तो हो नहीं। लगता है तुम भी उससे प्रभावित हो गये हो। उसकी ऐसे प्रशंसा कर रहे हो, जैसे भगवान की स्तुति कर रहे हो।''

''प्रभावित होने की बात नहीं, महाराज ! मैं क्यों प्रभावित होने लगा ? मैंने तो जो देखा, वह आपको बता दिया; आपने जो काम सौंपा था, कर दिया। मुझसे क्यों नाराज होते हैं?''

''भाई, नाराज होने की बात नहीं है। तुम मेरी बात समझते क्यों नहीं? मैं तो यह कह रहा हूँ कि उसकी बात कितनी ही अच्छी हो, सच्ची भी क्यों न हो; वह कितना ही महान् क्यों न हो, उससे जलने वाले वहाँ अवश्य मिलेंगे?

हो सकता है कि उसकी बात से किसी को कोई विरोध न हो, पर उससे होगा।''

''क्यों महाराज ?''

''इसलिए कि सर्वत्र इसप्रकार के कुछ-न-कुछ लोग अवश्य पाये जाते हैं, जिन्हें दूसरों का बढ़ना नहीं सुहाता । दूसरों के द्वारा जो महान काम होते हैं, वे तो उन्हें अच्छे लगते हैं, पर उनके कारण जो उन कार्यों के करने वालों को सम्मान मिलता है, वह उन्हें बरदाश्त नहीं होता । मानव की यह मनोवैज्ञानिक कमजोरी है।

मानव-मनोविज्ञान की इस कमजोरी के शिकार कुछ न कुछ लोग वहाँ अवश्य होंगे। हमें उनकी खोज करनी चाहिए।''

''उससे क्या होगा महाराज?''

''उससे हमें वहाँ पैर रखने की जगह मिलेगी। जबतक वहाँ पैर रखने की जगह भी न हो तो क्या किया जा सकता है? तुम यह नहीं समझते।''

''पर पैर रखने से क्या हो जाएगा?''

''क्या हो जाएगा ? तुम क्या जानो ? एक बार पैर रखने को जगह भर मिल जाए, फिर देखना हमारा कमाल ! यदि उसे वहाँ से न भागना पड़े तो तू मेरा नाम…'' - कहते-कहते महाराज एकदम रुक गये।

थोड़ी देर तक कोई कुछ न बोला । फिर महाराज शांति से समझाते हुए बोले – "तुम एक बार वहाँ और जावो, कुछ दिन वहीं रहो। उसकी प्रत्येक गतिविधि की पूरी-पूरी जानकारी लो। तुम्हें वहाँ उसका बन के रहना होगा, अन्यथा कुछ हाथ न लगेगा।"

"ठीक है !"

"ठीक क्या है, तुम्हें वहाँ उसका बन के रहना है, उसका हो नहीं जाना है। उसमें कुछ-न-कुछ ऐसा है अवश्य, जिससे उसके संपर्क में आने वाले उसके हो जाते हैं। सारा विदिशा उसका वैसे ही नहीं हो गया है?"

"क्या बात कहते हो महाराज ! क्या मैं भी उसके चक्कर में आ सकता हूँ ? मैंने आपकी संगति की है।"

"सो तो ठीक, पर तुम्हारी बातों से ऐसा लगता था कि जैसे तुम उससे प्रभावित हो गये हो। तुम उसकी बात इसप्रकार कह रहे थे कि···।"

"नहीं महाराज, नहीं। आपको सब सही जानकारी देनी थी। अतः सत्य बात कहनी जरूरी थी। नहीं तो ···।"

"अच्छा जावो ! पर ध्यान रखना तुम्हें उसकी बात के विरोधियों को नहीं, उसके व्यक्तित्व के विरोधियों को खोजना है।"

वह बाहर चला गया और बाबाजी आगामी योजना बनाने में विचार-मग्न हो गये। ●

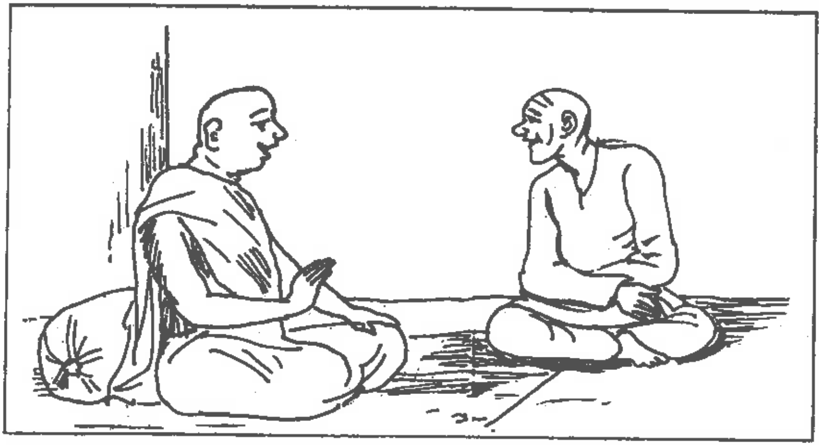

१८

जिसप्रकार मकान को बनाने के लिए जितना श्रम और समय लगता है, उसे गिराने में उसका शतांश भी श्रम एवं समय नहीं लगता; उसीप्रकार किसी भी अच्छे कार्य को करना जितना कठिन एवं श्रमसाध्य है, बिगाड़ना उतना ही सरल एवं सहज है।

विवेक ने अनेक कठिनाइयों में से गुजर कर बड़े ही परिश्रम से जो आध्यात्मिक वातावरण तैयार किया था; बाबाजी ने उसके व्यक्तित्व से जलने वाले कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों का पता लगाकर, उन्हें कुछ ऐसी तरकीबें बताईं, जिनसे विदिशा में विवेक के विरुद्ध कुछ तनाव पैदा किया जा सके, वातावरण को विक्षुब्ध बनाया जा सके।

वातावरण बिगड़ जाने के बाद स्वयं आकर कुछ करने का आश्वासन देकर बाबाजी ने उन्हें वापिस कर दिया; क्योंकि बाबाजी जानते थे कि विक्षुब्ध वातावरण के बिना वहाँ जाकर भी कुछ करना संभव नहीं है।

बाबाजी द्वारा निर्देशित व्यक्तियों ने विवेक के द्वारा संचालित दैनिक सामूहिक स्वाध्याय में प्रकरण से संबद्ध-असंबद्ध तरह-तरह के ऊटपटांग प्रश्न करने आरम्भ कर दिए, जिससे शान्तिपूर्वक स्वध्याय का संचालन भी सम्भव न रहा।

एक दिन उन में एक बोला — "क्यों साहब ! आपके इस अध्यात्म के अनुसार विधवाओं का विवाह होना चाहिए या नहीं?"

उक्त प्रश्न पूछने के सदर्भ में उनकी योजना यह थी कि अभी जो सम्पूर्ण समाज इसके पक्ष में है, इस प्रश्न के उत्तर से कुछ न कुछ लोग अवश्य ही इसके विरुद्ध हो जावेंगे।

यदि विवेक यह उत्तर देगा कि विधवा-विवाह होना चाहिए तो पुरातनपंथी पगड़ी-छाप लोग इसके विरुद्ध हो जावेंगे और यदि इसने यह कहा कि नहीं

होना चाहिए तो अपने को सुधारक कहने वाली युवा-पीढ़ी सहज ही इसके विरुद्ध खड़ी हो जावेगी।

बाबाजी ने समझाया भी यही था कि सामाजिक मामलों में प्रत्येक बात को लेकर लोगों में विभिन्न मत होते हैं। अतः यदि तुम विवेक को सामाजिक मसलों पर उसके विचार व्यक्त करने को बाध्य करोगे तो अवश्य कुछ न कुछ लोग उसके विरोध में आवाज उठायेंगे । अतः तुम्हारा प्रयत्न यही रहना चाहिए कि उससे इन मामलों में कुछ न कुछ बुलवाया जाए।

किन्तु आध्यात्मिक रुचि होने के बाद से विवेक की रुचि सामाजिक मामलों में स्वतः कम हो गई थी। अतः उसने बड़ी संजीदगी एवं गंभीरता से कहा — "भाई ! आप क्या बात करते हैं ? विधवा-विवाह होना चाहिए या नहीं, वह भी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पूछ रहे हो?

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो न विधवाओं का ही विवाह होना चाहिए और न कुमारियों का ही। अध्यात्म तो यहाँ तक कहता है कि जिनकी शादियाँ हो गई हों, उन्हें भी स्त्री-संग छोड़ देना चाहिए।"

जब उन्होंने देखा कि यह वार तो खाली गया, हमने तो सोचा था कि यह हाँ या ना में उत्तर देगा और अपना काम बन जाएगा, पर यह तो साफ-साफ बच गया, तो उन्होंने दूसरा तीर फेंका ।

"तो क्या, तुम्हारा अध्यात्म तलाक की सलाह देता है ?" — मुस्कराते हुए व्यंग से प्रश्नकर्त्ता बोला ।

"नहीं, भाई !"

"तो फिर आपने छोड़ देना चाहिए क्यों कहा ?"

"छोड़ देना चाहिए का अर्थ है, ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए।"

"ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए - यह अर्थ कैसे हो सकता है? जब आपने साफ-साफ छोड़ देना चाहिए कहा है।"

"भाई साहब ! आपने ध्यान से नहीं सुना, मैंने तो यह कहा है कि 'स्त्री-संग छोड़ देना चाहिए'।"

"स्त्री-संग छोड़ देने का अर्थ भी तो तलाक देना ही हुआ।"

"कैसे ? क्या यह आवश्यक है कि स्त्री-संग छोड़ने के लिए तलाक ही देना पड़े ? मुनि दीक्षा लेने वाले बिना तलाक के भी ..... ।"

"अब तुम मुनियों पर ले गये।"

"गृहस्थ भी ब्रह्मचर्य लेकर घर में रहते हैं।"

"घर में कैसे रहेंगे जब स्त्री-संग छोड़ देंगे ?"

"स्त्री-संग का अर्थ फिर गलत कर रहे हैं आप ?"

"कैसे ?"

"स्त्री-संग माने स्त्री का साथ नहीं, वरन् स्त्री-सेवन से है। स्त्री-संग छोड़ देना चाहिए अर्थात् स्त्री-सेवन छोड़ देना चाहिए।"

इसीतरह बहुत देर तक वे लोग बहस करते रहे और उस दिन सहजरूप से सामूहिक स्वाध्याय नहीं हो पाया।

जब दूसरे दिन भी उनके द्वारा टोका-टोकी आरम्भ हुई तो कुछ श्रोताओं ने उनसे कहा – "भाई ! आप अपने प्रश्न बाद में कर लेना; अभी सबका नुकसान होता है, आपको पता नहीं हम लोग कितनी दूर से तत्त्वचर्चा का लाभ लेने आये हैं।"

वे बिगड़ते हुए बोले – "आप चुप रहिए, आपसे कौन बात कर रहा है? आप क्यों बीच में टाँग अड़ाते हैं ?"

"भाई, इसमें टाँग अड़ाने की बात नहीं है। हम तो यह चाहते हैं कि आपकी व्यक्तिगत शंकाओं का समाधान आप व्यक्तिगतरूप से एकान्त में करें।"

"क्यों ? यह बात हमारी व्यक्तिगत कहाँ है, सबकी ही है। क्या यह मेरे लड़का-लड़की की शादी की बात है, जो व्यक्तिगत हो गई। हमारी शंकाओं के समाधान से सभी को लाभ मिलना चाहिए। यह भी तो लाभ ही है।"

"पर सब लाभ नहीं चाहें तो ... ।"

"कैसे नहीं चाहें ?"

"क्या जबर्दस्ती है?"

"जबर्दस्ती की बात नहीं, सब चाहते हैं। कौन कहता है कि सब नहीं चाहते हैं? सभी चाहते हैं। बोलते नहीं, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि चाहते नहीं।"

"अच्छा सबसे पूछ लीजिये कि वे चाहते हैं या नहीं?"

"क्यों पूछ लें ? हमें क्या आवश्यकता है पूछने की? आपको पूछना हो तो आप पूछते रहिए।"

"अच्छा हम पूछते हैं।" — कहकर एक शांतिप्रिय श्रोता सबको सम्बोधित करते हुए बोला —

"क्यों भाई साहब ! क्या आप लोग यह पसन्द करते हैं कि इस तरह बीच में टोका-टोकी करके सामूहिक स्वाध्याय शान्ति से नहीं होने देना चाहिए?"

सबने एक साथ कहा — "नहीं!"

जब सबसे पूछने वाले भाई ने मुड़कर उससे कहा — "देखिए कोई नहीं चाहता कि आप प्रवचन के बीच में डिस्टर्ब करें ।"

तब खिसियाते हुए वह बोला —

"आपने गलत ढंग से पूछा है, मैं पूछता हूँ?"

और उसने सबकी ओर देखते हुए जोर से कहा —

"यदि कोई शंका हो तो क्या प्रवचन के बीच में पूछना गुनाह है?"

सब चुप रह गये, पर उसका एक साथी बोला — "नहीं ।"

सबको चुप देखकर एक भाई बोला — "देखिए एक व्यक्ति को छोड़कर कोई भी व्यक्ति आपकी बात का समर्थन नहीं कर रहा है।"

वह एकदम उत्तेजित होकर कहने लगा — "सभी चुप हैं, इसका अर्थ है — सभी समर्थन कर रहे हैं ।"

उसकी यह बात सुनकर चारों ओर से उसके विरोध में आवाजें आने लगीं। एक तरह से भब्भड़--सा हो गया।

कोई कह रहा था — "आप अपनी बात बाद में नहीं कर सकते क्या ?"

उसके उत्तर में वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था — "नहीं, हम बाद में अपनी शंका भूल जायें तो ?"

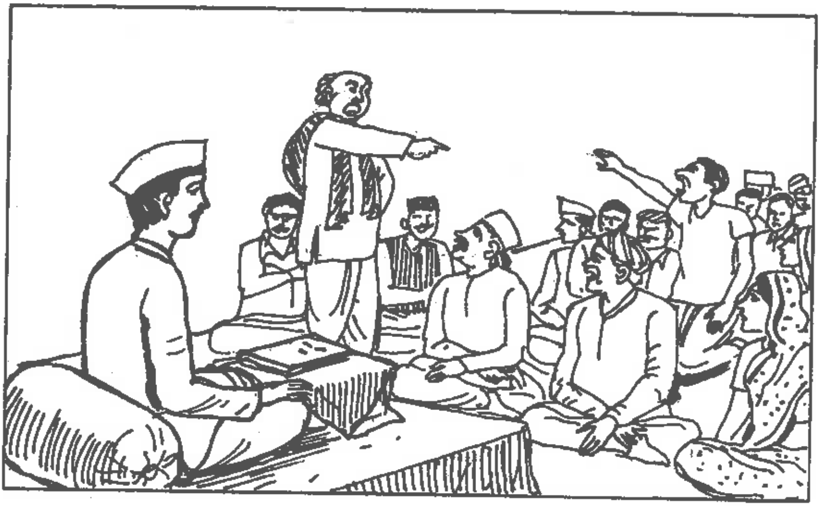

इसी बीच किसी ने कहा — "भूल जाएँ तो वह शंका ही कैसी? और जब आप शंका ही भूल जावेंगे तो उसका जो उत्तर दिया जाएगा वह भी भूल सकते हैं। पूछने से क्या लाभ ?"

इसीतरह की बातों में दूसरे दिन की सभा भी समाप्त हो गई?

वातावरण में एक उत्तेजना-सी हो गई। चौराहे-चौराहे पर वही चर्चा थी। कोई कुछ कह रहा था कोई कुछ ।

तीसरे दिन बाजार में अफवाहें उड़ रही थीं कि विवेक को कहीं से पाँच सौ रुपये मासिक समाज को भ्रष्ट करने के लिए मिलते हैं। वह बिक गया है, समाज को बर्बाद कर रहा है, वह गुरु-द्रोही है; आदि न जाने कितनी बेसिर-पैर की बातें विवेक के विरुद्ध फैल रही थीं।

यह सब बातें 'हमने तो सुना है' के रामबाण वाक्य द्वारा छूत की बीमारी की तरह फैलाई जा रही थीं।

दो-चार दिन बाद यह भी सुना जाने लगा कि विवेक ने प्रवचन में गुरुओं की निन्दा की है; उन्हें न जाने क्या-क्या कहा है। वह पुजारियों को ढोंगी कहता है, धर्मात्माओं को ठग कहता है, मन्दिर जाने को पाप कहता है, आदि न जाने क्या-क्या कहा जा रहा था उसके विरुद्ध।

फिर एक तरह से आन्दोलन-सा खड़ा हो गया कि उसका बहिष्कार किया जाए। 'धर्म खतरे में है' का नारा देकर उसके विरुद्ध वातावरण तैयार किया गया।

वातावरण में तनाव हो गया। किसी को यह जानने की फिकर नहीं थी कि उड़ाई गई बातों में सच्चाई कहाँ तक है। जिन्हें इसप्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न भी हुई तो उन्हें इस बात का पता लगाने की फुर्सत नहीं थी। जिन्होंने पता लगाने की कोशिश भी की तो उन्हें इससे अधिक कुछ पता न चला कि 'हमसे तो उन्होंने कहा था।' उनसे पूछा तो उन्होंने कहा—'हमसे तो उन्होंने कहा था।' इस 'उन्होंने' का कहीं अन्त ही न आता था। अतः मन मानकर रह गये।

कुछ लोग इस तरह की बातं करने लगे कि मैं भी सोचता था कि विवेक घंटों समय तत्त्वचर्चा के लिए मुफ्त में क्यों देता है, अपने व्यापार का नुकसान करके भी यह सब क्यों करता है ? उसका कारण तो आज समझ में आया कि – 'धंधा का धंधा और महात्मा के महात्मा'। दोनों हाथ लड्डू थे इसके हाथ में ।

स्त्रियों में भी ऐसी चर्चा चल पड़ी थी कि "यह रूपमती भी पंडितानी बन गई है । क्यों न बने जब चारों अँगुलियाँ घी में हों। पहिले तो यह भी ···। पर अब ··· "

आदि न जाने कितने प्रकार की बातें फैल रही थीं। जिसके मुँह जो आता, वही कहता ।

जब एकदम वातावरण विषाक्त बन गया तो वे लोग बाबाजी के पास पहुँचे और बाबाजी को सारी स्थिति बताकर निवेदन किया कि हमारा काम हमने कर दिया । अब आप ··· ।

"शाबास" - कहते हुए बाबाजी ने कहा कि — "हम वैसे ही वहाँ नहीं पहुँच सकते।"

"तो क्या करें ?"

"एक डेपूटेशन लेकर आओ, फिर विचार करेंगे।"

"महाराज, डेपूटेशन तो नहीं आ सकता, क्योंकि वहाँ विवेक के विरुद्ध तो वातावरण बन गया है, पर हमारे साथ कोई नहीं है । सब संशय में पड़

गये हैं। पर यह वातावरण भी बहुत दिनों तक कायम नहीं रहेगा। एक तो जनता की स्मृति लम्बी नहीं होती, दूसरे बात में भी तो दम नहीं है । सब हवा में महल बनाया है, आपकी आज्ञा से । अतः अब आपको आकर सम्भालना चाहिए । आपने कहा भी था कि ··· ।"

"तो हम मना कहाँ कर रहे हैं ? पर डेपूटेशन ··· ।"

"पर ··· !"

"घबड़ाते क्यों हो, कोई दो-चार आदमी आ जावो, इस गाँव के न हों तो आसपास के ··· ।"

"इस काम के लिए तो आसपास के भी न आवेंगे ।"

"तुम तो बेवकूफ हो, उनसे कहो ही क्यों कि हम इस काम के लिए आपको ले जा रहे हैं । वैसे ही ले आवो। बस उनके सामने निवेदन करना ···।"

"ठीक है महाराज ! समझ गये । यह हो जाएगा ।"

"जाओ, फिर कोई चिन्ता नहीं, हम सब संभाल लेंगे ।"

वे खुशी-खुशी वापस चले गये और महाराज अपनी सफलता पर मन ही मन प्रसन्न हो सोचने लगे कि — "अब आ जाएगा बच्चू ठिकाने !"

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है। वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता।

— *तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १२९*

११

जब कोई आदमी अत्यन्त पवित्र भाव से बिना किसी स्वार्थ के किसी अच्छे काम को करता है और उस कार्य में सफलता मिलती है, प्रोत्साहन मिलता है, यश मिलता है और जिस पावन उद्देश्य से उसने कार्य आरम्भ किया था, यदि उसमें कुछ उन्नति प्रतीत होती है तो उसका उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगता है । उत्साह के बढ़ने से कार्य को भी गति मिलती है और ऐसा लगने लगता है कि अब सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने में कुछ देर नहीं । किन्तु '**श्रेयांसि बहु विघ्नानि**' की नीत्यनुसार जब उसके उन कार्यों में विघ्न पड़ने लगता है; उस पवित्र कार्य के कारण भी जब उसे अपयश मिलने लगता है, उस पर अवांछित शक किये जाने लगते हैं, उसे बदनाम किया जाने लगता है तो उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ने लगता है। उसके हृदय में एक वितृष्णा का भाव जगने लगता है । यद्यपि वह कार्य अच्छा भी हो, तथापि उस कार्य के प्रति उसके हृदय में एक अरुचि-सी उत्पन्न हो जाती है । वह सोचने लगता है - '**यहाँ तो होम करते हाथ जलते हैं।**'

विघ्न उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य भी यही होता है कि कार्यकर्त्ताओं का उत्साह ठंडा पड़े ।

विवेक का तत्त्वप्रचार सम्बन्धी उत्साह कुछ ठंडा पड़ गया। रूपमती भी सोचने लगी - "यह अच्छी आफत मोल ली ।"

कुछ दिन ऐसा ही चलता रहा । उनके सभी कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो गये।

एक दिन विवेक के कुछ तत्त्वप्रेमी श्रोता उसके पास आये और कहने लगे- "ऐसा कब तक चलेगा, क्या इन लोगों के डर से अपन लोग स्वाध्याय भी बन्द कर देंगे ? अपने को स्वाध्याय चालू रखना चाहिए । कल से आप पधारें, स्वाध्याय चालू करें, हम सब आवेंगे ।"

विवेकने कहा - "वे लोग फिर झगड़ा करेंगे ।"

उनमें से एक बोला - "कैसे करेंगे, क्या मंदिर उनका है ?"

"उनका न भी हो, पर इससे क्या होता है ? जब उन्हें झगड़ा करना ही है तो वे झगड़ा करेंगे ही. अपन क्या कर सकते हैं ?" – गंभीर विवेक बोला।

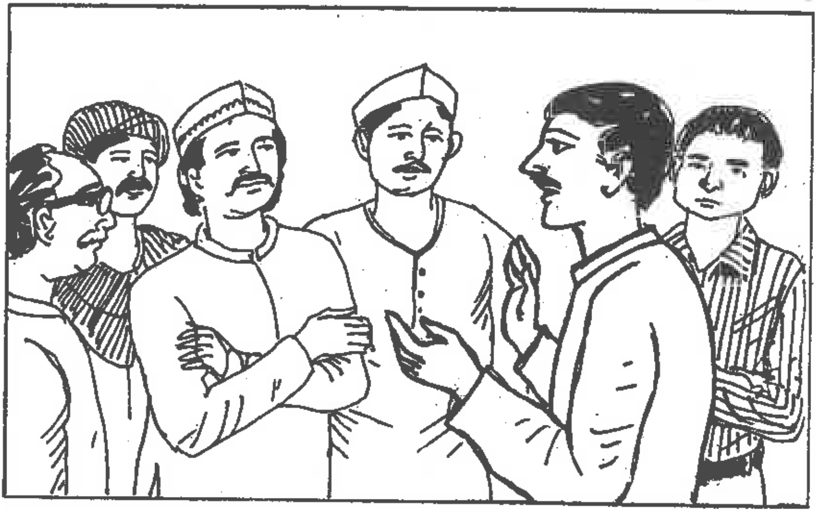

"कैसे नहीं कर सकते, सब देख लेंगे, कौन झगड़ा करता है ? हमने भी चूड़ियाँ नहीं पहिन रखी हैं।" — जब उत्तेजित होता हुआ एक बोला तो समझाते हुए विवेक ने कहा – "भाई ! फिर झगड़ा ही तो होगा, झगड़े से बच कहाँ सकेंगे अपन लोग। आत्मार्थी का काम झगड़ा करना नहीं है ।"

"तो क्या फिर झगड़े के डर से हम मन्दिर आना भी छोड़ दें ?" – जब हताश होता हुआ दूसरा बोला तो विवेक समझाने लगा – "मंदिर छोड़ने की बात नहीं है भाई ! यह सब क्षणिक उत्तेजना है। समय पर सब शान्त हो जाएगा। **खून का धब्बा खून से नहीं धुलता – उत्तेजना, उत्तेजना से शान्त नहीं होती।** हमें शान्त रहना चाहिए, समय सबकुछ ठीक कर लेगा।"

रूपमती चुपचाप यह सब सुन रही थी। जब उससे न रहा गया, तब उत्तेजित होती हुई बोली – "यह कैसी कायरता की बातें कर रहे हैं आप? इतना हताश तो मैंने आपको कभी नहीं देखा ? आपको हो क्या गया है ?"

"कुछ नहीं ।" – गंभीरतापूर्वक विवेक ने कहा – "इसमें कायरता की कोई बात नहीं है और न हताश होने का कोई प्रश्न ही है । क्या नहीं लड़ना कायरता है और लड़ना वीरता ? यदि वीरता झगड़ालूपन का ही नाम है और

शान्तिप्रियता का नाम कायरता है तो मैं कायर ही भला; ऐसी वीरता मुझे नहीं चाहिए । तत्त्व का प्रचार लड़कर नहीं किया जा सकता ।"

झुंझलाती-सी रूपमती बोली – "आखिर आप चाहते क्या हैं ?"

"कुछ नहीं, सिर्फ लड़ना नहीं चाहता । यह भी नहीं चाहता मेरे नाम पर और कोई लड़े; तत्त्व के नाम पर भी संघर्ष चले, यह भी मुझे स्वीकार नहीं। इससे सामाजिक एकता भंग होगी । यदि समाज संगठित नहीं रहा तो बहुत हानि होगी । अतः आप सबसे मेरा यही निवेदन है कि आप सब शांत रहें । उत्तेजित वातावरण में अग्नि में घी डालने का काम न करें । सबकुछ समय पर ठीक हो जायगा।"

इसके बाद कोई कुछ न बोल सका, बात यहीं समाप्त हो गई और सब चल दिये ।

रास्ते में एक बोला – "जब अपना नेता ही इतना ढीला है तो अपन क्या कर सकते हैं ।"

तब दूसरे ने कहा – "ऐसा क्यों कहते हो, इसमें ढीलेपन की क्या बात है ?"

"क्यों नहीं ?" – तीसरा बोल उठा ।

समझाते हुए चौथे ने कहा– "ऐसे मामलों में शान्ति से ही काम लेना पड़ता है । अन्यथा बात बनने के बजाय अधिक बिगड़ जाती है । भाई, यह समाज है, समाज ··· ।"

पाँचवाँ कहने लगा – "अच्छा समाज है, जिसमें शास्त्र पढ़ना भी गुनाह है । हमें नहीं चाहिए ऐसा समाज ।"

छठवाँ बोला – "तुम घर में पढ़ो न शास्त्र, कौन रोकता है ? मन्दिर में पढ़ने से झगड़ा होता है तो ··· "

"तो क्या ?" – सातवाँ कहने लगा।

आठवाँ बोला – "तुम समझते क्यों नहीं ? अपना समाज छोटा-सा तो वैसे ही है, इसके भी टुकड़े हो जायें तो ठीक नहीं ।"

नवाँ बोला – "कल होते थे सो आज हो जाएँ । जिस समाज में, मन्दिर में शास्त्र भी नहीं पढ़ सकते, उससे जुड़े रहने से भी क्या हो जाने वाला है?"

दसवें ने समझाते हुए कहा – "यदि तुम्हें विवेक से शास्त्र सुनना अच्छा लगता है, उनके प्रति श्रद्धा है तो फिर उनकी बात भी माननी चाहिए। जब उन्होंने कहा है कि कुछ दिन शान्त रहो तो शान्त रहना ही चाहिए। वे हम सब की भलाई के लिये कह रहे होंगे । कुछ दिनों में वातावरण शांत हो जायेगा। फिर सब-कुछ उसीप्रकार चलने लगेगा। आकुलता नहीं करनी चाहिए।"

"तुम ठीक कहते हो।" – ग्यारहवाँ बोला – "पर बिना स्वाध्याय के मन नहीं लगता। दिन सूना-सूनासा लगता है ।"

इसप्रकार की चर्चा करते वे लोग अपने-अपने घर चले गये ।

इधर रूपमति विवेक से बोली – "सब आपके पास आये । आपका पूरा साथ देने को तैयार, आपके पीछे मर-मिटने को तैयार, फिर भी आप 'शान्ति, शान्ति' की रट लगाये रहे। मेरी समझ में नहीं आता कि यह क्या हो गया है आपको ?"

विवेक कुछ नहीं बोला। वह लगातार बोलती रही, कहती रही -

"तुम तो इतने उत्साही थे। तुमने ही तो सबको इस मार्ग पर लगाया, अब सबको मझधार में छोड़ रहे हो। तुम्हें किसका डर लग रहा है, ये दो-चार लोग आपका कर क्या लेंगे ? आप थोड़ा भी यत्न करें, जरा से सक्रिय हो जावें तो सारा समाज आपके साथ खड़ा होगा। चार आदमी भी उनके साथ नहीं दिखेंगे। पर ··· ।"

उद्विग्न-सा विवेक बोला – "तुम समझती क्यों नहीं, रूपमती ? सवाल डर का नहीं, जीतने-हारने का भी नहीं ; किसके साथ बहुत आदमी हैं और किसके साथ कम, इसका भी सवाल नहीं है। सवाल सामाजिक एकता का है। यदि चार आदमी दूसरे पक्ष में खड़े होते हैं तो पार्टीबन्दी हो जाएगी, जो समाज को बर्बाद कर डालेगी। मैं नहीं चाहता की समाज के दो टुकड़े हों और वह भी मेरे निमित्त से। और वे दो-चार आदमी भी तो अपने ही समाज के हैं, भले ही वे आज भ्रमित हैं पर शान्ति से उनका भ्रम दूर किया जा सकता है। **एकता का रास्ता प्रेम का रास्ता है, संघर्ष का नहीं** । तुम बहुत उतावली हो। इतना उतावलापन भी ठीक नहीं।"

"एकता ठीक है, पर सत्य की कीमत पर ··· ।"

"सत्य की कीमत पर नहीं, सत्य को रखकर । सत्य इतना कमजोर नहीं होता कि दो-चार कार्यक्रम अस्त-व्यस्त होने से नष्ट हो जाए, छिप जाए । संगठन से सत्य बहुत मजबूत होता है। संगठन जितने जल्दी टूटता है, उतने जल्दी सत्य नहीं। सत्य टूटता ही नहीं, वह तो अटूट होता है ।

तुम उतावली न करो, मैं सत्य का उद्घाटन भी करूँगा और संगठन भी कायम रखूँगा। मेरे द्वारा न सत्य की कीमत पर संगठन होगा और न संगठन की कीमत पर सत्य ही छोड़ा जाएगा। **धर्म के लिए सत्य जरूरी है और समाज के लिए संगठन** । अतः धार्मिक समाज का काम है कि वह सत्य का आश्रय ले और संगठन को भी बनाए रखे। विघटन समाज को समाप्त कर देता है और असत्य धर्म को । दोनों की ही सुरक्षा आवश्यक है।

यद्यपि हमें क्रान्ति करनी है पर शान्ति के साथ - यह नहीं भूलना चाहिए। कोई न कोई शान्तिपूर्ण रास्ता निकलेगा ही।"

"ठीक है" - नर्वस-सी रूपमती बोली - "पर आप कोई रास्ता शीघ्र निकालिए। देर करने से साथी बिखरते जायेंगे। जो आज आपके साथ हैं, आपकी निष्क्रियता देख आपका साथ छोड़ देंगे । 'चलती का नाम गाड़ी है' - इस कहावत से तो आप परिचित ही हैं । साथियों को साथ रखने के लिए कुछ न कुछ सक्रियता रखनी चाहिए ।"

"मुझे ऐसे साथियों की आवश्यकता नहीं, जो उतावले हों । सत्य का रास्ता इतना सस्ता नहीं । मैं सक्रियता के लिए सक्रियता में विश्वास नहीं रखता। कार्य के लिए जो सक्रियता आवश्यक है, वह मेरी दृष्टि में उपादेय है, विधेय भी है - पर मात्र साथियों को बांधे रखने के लिए आवश्यक-अनावश्यक कुछ-न-कुछ करते रहना मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं है ।"

जब विवेक ने यह कहा तो रूपमती कहने लगी -

"आपकी प्रकृति के अनुकूल क्या है और क्या नहीं, इससे जगत को क्या ? जगत को बाँधे रखने के लिए सक्रियता अत्यन्त आवश्यक है ।"

"जो मात्र बाहरी सक्रियता से ही बँधते हैं, उन्हें बाँधने से भी क्या होगा? जो तत्त्व से बँधेगा, वही वास्तविक साथी होगा । तत्त्वदृष्टि की एकरूपता ही वास्तविक वात्सल्य उत्पन्न करती है ।"

"जो कुछ भी हो, सावधान रहने की जरूरत है ।"

"जो अपने में सावधान है, उसे पर की सावधानी की आवश्यकता नहीं।"

"फिर भी ··· ।"

"फिर भी क्या, जब तत्त्वप्रचार का काल पकता है, तब सब-कुछ सहज ही ठीक हो जाता है। उस तरफ के विकल्प में अधिक उलझने की आवश्यकता नहीं।"

"जैसा आप जानें" - कहती हुई रूपमती घर के काम में उलझ गई और विवेक भी अपनी दुकान की ओर चल दिया।

दस-पाँच दिन और ऐसा ही चलता रहा । कहीं कोई विशेष हलचल नहीं हुई। तब विवेक और उसके साथियों ने सोचा कि उफान बैठ गया है। अब अपने को अपना काम करना चाहिए।

सबने मिलकर फिर सामूहिक स्वाध्याय आरंभ कर दिया। कई दिनों से शून्य पड़े सभागृह में फिर हलचल आरंभ हो गई। फिर स्त्री-पुरुषों के समुदाय जुड़ने लगे । विवेक के प्रवचनों में और भी गंभीरता आ गई । एक बार फिर वही वातावरण बन गया। पर विघ्न-संतोषी लोगों को जब पता चला तो फिर उन्होंने विघ्न-बाधाएँ खड़ी करना आरंभ कर दीं । शास्त्र-सभा में फिर वही गड़बड़ियाँ आरंभ हो गईं। वे ही ऊल-जलूल प्रश्न, वे ही उत्तेजनात्मक अनाप-शनाप बातें।

विवेक ने बड़ी ही गंभीरता से सभा का संचालन चालू रखा। अपने साथियों को भी पूर्ण शांत बनाए रखा। पर बहुत दिनों तक वह इस वातावरण को बनाए न रख सका। एक बार फिर वही उत्तेजनात्मक वातावरण बन गया ।

अन्ततोगत्वा फिर सामूहिक स्वाध्याय बंद हो गया। वातावरण अत्यन्त विषाक्त हो गया । विवेक और उनके साथी खिन्न थे, पर उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि क्या करें।

बस, इसी तरह दिन बीत रहे थे । सब-कुछ अस्त-व्यस्त ! विघ्न-संतोषी लोग खुश थे, क्योंकि वे बहुत कुछ सफल हो गये थे। वे भला यही तो चाहते थे कि इनका कार्यक्रम गड़बड़ा जाए, स्वयं तो कुछ करना नहीं चाहते थे।

फिर कुछ दिनों शान्ति रही, पर श्मशान जैसी।

२०

जिसकी जो आदत हो जाती है, वह उसके बिना नहीं रह सकता। यदि वह आदत अच्छी हो, उसके द्वारा अपना और समाज का हित होता हो तो फिर आत्मार्थियों एवं सामाजिक हित चाहने वालों का उसके बिना रह सकना सम्भव नहीं है ।

विवेक के साथियों को भी जब आध्यात्मिक गतिविधियों से शून्य जीवन जी-सकना संभव न रहा तो वे सब मिलकर एक बार फिर विवेक के घर पहुँचे। सबने मिलकर विवेक से अनुरोध किया कि हमें आपके प्रवचनों का लाभ मिलना ही चाहिए , न सही मन्दिर में और कहीं सही ।

विवेक ने बहुत समझाया कि कुछ दिन शान्ति रखो, धीरे-धीरे सब-कुछ ठीक हो जाएगा, पर उनमें से एक बोला -

"कुछ नहीं होने वाला है; क्योंकि जब सहज वातावरण बिगड़ता है तो फिर कुछ समय बाद सहज सुधर भी जाता है, किन्तु जब जानबूझ कर बिगाड़ा जाता है तो सुधरने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सुधरेगा और आप प्रवचन करेंगे तो फिर बिगाड़ दिया जाएगा । अतः अब अधिक इन्तजार करना अपना अमूल्य समय खराब करना है ।"

उसके समर्थन में दूसरा कहने लगा — "ये ठीक कहते हैं, यह मनुष्य भव है ही कितना ? इसमें बहुत कुछ तो यों ही विषयकषाय में बीत ही गया है । थोड़ा-बहुत बचा है, उसमें घर-गृहस्थी के हजार झगड़े हैं । खाना-कमाना, हारी-बीमारी कुछ-न-कुछ लगा ही रहता है। जो थोड़ा-बहुत समय मिलता है, उसका भी सदुपयोग आप जैसे सत्पुरुषों के सत्समागम से न कर पाये तो ··· ।"

वह अपनी बात समाप्त भी न कर पाया था कि तीसरा कहने लगा -

"यह मनुष्य भव मुफ्त में ही चला जाएगा। यदि मनुष्य भव, योग्य कुल और आप जैसे लोगों का समागम प्राप्त हुआ है तो उसे यों ही तो नहीं गंवाया जा सकता। ये सामाजिक झगड़े तो लगे ही रहेंगे।"

चौथा कहने लगा - "ऐसे हाथ पर हाथ रखे कब तक बैठे रहेंगे ?"

परेशान-सा विवेक बोला - "आखिर आप लोग चाहते क्या हैं? ऐसी परिस्थिति में किया भी क्या जा सकता है ? लड़ना-झगड़ना तो अपने बस की बात है नहीं, यह अपना काम भी नहीं ।"

विवेक की परेशानी अनुभव करता हुआ पहला व्यक्ति बोला —

"अपन लोग लड़ना-झगड़ना नहीं चाहते, लड़-झगड़ सकते भी नहीं । इसीलिए तो हम लोग यह चाहते हैं कि मन्दिर का झगड़ा छोड़ो, हम लोग कहीं दूसरी जगह इन्तजाम करते हैं। आप वहाँ प्रवचन करना ।"

"दूसरी जगह कहाँ ?" - विवेक ने जब यह पूछा तो उसने बताया -

"धर्मशाला में ।"

"यदि वे वहाँ भी झगड़ा करेंगे तो ?"

"तो फिर जो होगा, देखा जाएगा । और कुछ सोचेंगे ?"

इसीप्रकार का बहुत-कुछ विचार-विमर्श चलता रहा। अन्ततः धर्मशाला में प्रवचन चालू हुआ। धीरे-धीरे मन्दिर की भीड़ धर्मशाला की तरफ मुड़ने लगी। लोग जल्दी-जल्दी दर्शन-पूजन कर प्रवचन के समय के पहिले धर्मशाला में पहुँचने लगे। ऐसी अभूतपूर्व तत्त्व की बात अन्यत्र नहीं मिलती थी। अतः स्वभावतः शान्तिप्रिय धर्म-प्रेमी जनता वहाँ पहुँचने लगी । कुछ दिन तक सब-कुछ शान्ति से चलता रहा। पर यह शान्ति भी अधिक समय तक कायम न रह सकी। जो कुछ मन्दिर में हुआ था, धर्मशाला में भी दोहराया जाने लगा। चर्चा-वार्ता हो-हल्ला में बदलने लगी। विवेक के शान्ति कायम रखने की मार्मिक अपील के कारण उसके अनुयायी कुछ नहीं बोले, तब भी शान्ति कायम न रह सकी। वातावरण विषाक्त होने लगा और फिर शास्त्र सभा बन्द होने की नौबत आ गई। विवेक के साथी यद्यपि इस बार बिल्कुल शान्त थे तथा उनका शास्त्रसभा चालू रखने का संकल्प भी दृढ़ था। अतः प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शास्त्र सभा चालू रखी गई। दो बार वे लोग जिन तरीकों से शास्त्र प्रवचन बंद करने में सफल हो गये थे, तीसरी बार विवेक के साथियों के दृढ़ संकल्प के कारण सफल न हो सके, तो कुछ नये उपाय सोचे जाने लगे ।

आखिर बातों से काम चलता न देख हाथापाई पर उतर आये । अन्ततः एक बार फिर सब-कुछ गड़बड़ा गया।

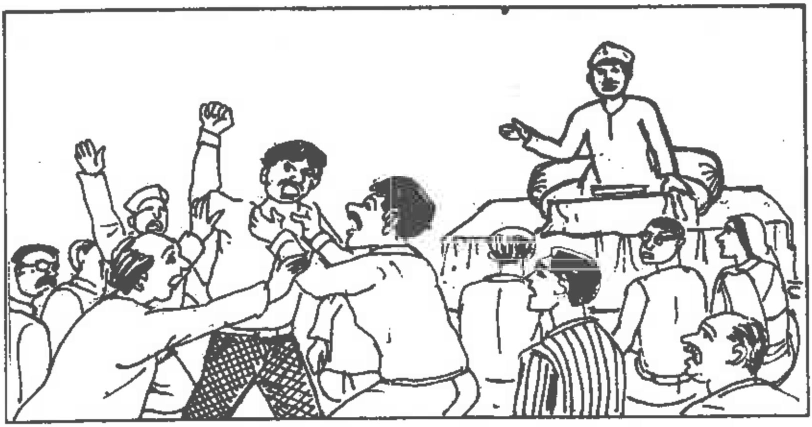

विवेक के साथियों ने कल्पना भी न की थी कि हाथापाई की भी नौबत आ सकती है। वे लोग सावधान भी न थे, अतः उन लोगों के काफी चोटें आईं। पुलिस में जाने की बात आई तो विवेक अड़ गया और उसने धार्मिक और सामाजिक मामले को लेकर अपने साथियों को पुलिस में न जाने दिया, किन्तु सामने वाले उल्टी-सीधी रिपोर्ट लिखवा ही आये। परिणामस्वरूप दोनों ओर के प्रमुख व्यक्तियों के मुचलके-जमानतें हुईं और पेशियाँ चलने लगीं।

अब तो स्थिति सामान्य न रही थी । आस-पास के गाँवों में खबर फैल गई। इस वातावरण की चपेट में अब अकेला विदिशा नहीं रहा, वरन् पूरा एरिया आ गया था। गाँव-गाँव में विवेक और उसके साथी चर्चा के विषय बन गये थे। सर्वत्र निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान की चर्चाओं के साथ विघटन की आशंकाएँ भी व्यक्त की जाने लगी थीं ।

सामाजिक अखबारों में भी इस प्रकरण सम्बन्धी चर्चायें चल पड़ी थीं । अखबारों के बीच में आ जाने से एक जगह की समस्या सब जगह की बन गई थी । विवेक और उनके साथियों को अनेक कठिनाइयों और परेशानियों के साथ-साथ एक लाभ भी हो रहा था कि उनकी बात के प्रति देश का सारा समाज उत्सुक हो उठा था । सारे देश का समाज जानना चाहता था कि आखिर

विवेक ऐसी क्या बात कहता है कि जिससे उसे मन्दिर में शास्त्र नहीं पढ़ने दिया जाता, धर्मशाला में भी नहीं बैठने दिया जाता।

विवेक के साथी भी निरन्तर बढ़ रहे थे। उनकी संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। इसका एक मात्र कारण उसकी शान्तिप्रियता एवं मधुर और ओजपूर्ण वाणी में तात्त्विक प्रतिपादन था।

विवेक और विवेक के साथियों के लिए भी अब स्थिति ऐसी नहीं रह गई थी कि चुपचाप बैठा जा सके। अत: उन्होंने वर्त्तमान परिस्थितियों से निबटने एवं भविष्य के कार्यक्रम के सम्बन्ध में गंभीरता से विचार-विमर्श करने के लिए विवेक के घर पर सभी साथियों की एक आवश्यक मीटिंग बुलाई।

विवेक के साथी काफी उत्तेजित थे। वे किसी भी कीमत पर अपना कार्यक्रम बन्द नहीं करना चाहते थे। वे अपने कार्यक्रम, जिनमें विवेक का प्रवचन भी शामिल था, मन्दिर या अन्य सामाजिक स्थल पर ही करना चाहते थे। उनका कहना था कि मन्दिर या धर्मशाला मात्र उन्हीं दो-चार व्यक्तियों की नहीं है, हम सबने भी उसमें तन-मन-धन से योगदान किया है। वे हर संभावित परिस्थिति का सामना करने को तैयार थे, पर विवेक ने उनकी एक न सुनी और कहा कि यदि आप सच्चे आत्मार्थी हैं तो अधिकार की बातें छोड़िये । जब हमारा एक परमाणुमात्र परपदार्थ पर ही कोई अधिकार नहीं है तो फिर मन्दिर और धर्मशाला तो बहुत दूर की चीजें हैं।

जब सभी लोगों ने बहुत आग्रह किया तो उसने अपने घर ही प्रवचन करने की स्वीकृति दी। किन्तु समस्या यह थी कि इतना स्थान उसके घर में नहीं था कि जितने लोग आजकल उसकी सभा में आ रहे थे, वे सब समा सकें।

बहुत विचार-विमर्श के बाद यह तय हुआ कि कोई एक अच्छा स्थान फिलहाल किराये पर ले लिया जावे और वहाँ कार्यक्रम आरंभ किया जावे।

इस सर्वसम्मत निर्णय के बाद मीटिंग समाप्त होने ही जा रही थी कि एक व्यक्ति ने कहा - "कुछ तय करने के पहिले अपने को समाज के प्रमुख व्यक्तियों से भी सलाह करना चाहिए । हो सकता है कि वे अपने को इससे भी अच्छा रास्ता सुझाएँ ।"

यह बात सबको उचित लगी और दूसरे दिन समाज के प्रमुख व्यक्तियों से मिलने का निश्चय कर मीटिंग समाप्त हुई ।

सफलता से प्रसन्न विघ्न-संतोषी लोग भी अपनी आगामी योजना के बारे में विचार-विमर्श कर रहे थे । कुछ का कहना था कि अब विवेक और विवेक के साथी सदा के लिए समाप्त हो गये हैं। अब उनकी हिम्मत और कुछ करने की नहीं होगी।

उनमें से एक बोला – "नहीं मानेंगे तो और भी पिटेंगे।"

उसकी बात सुनकर सभी लोग खिलखिलाकर हँस पड़े। पर उन्हीं में से एक गंभीर-सा व्यक्ति बोला – "वे जवाबी आक्रमण भी कर सकते हैं ?"

"अरे ! उनकी क्या हिम्मत ?"

"इसमें हिम्मत की क्या बात है? आखिर वे भी तो इसी मिट्टी में पैदा हुए हैं, पले-पुसे हैं। तुम्हारे ही भाई-बन्द हैं। जो तुम कर सकते हो, वह वे भी कर सकते हैं।"

"यह बात तो सही है, पर ··· "

"पर क्या ?"

"यही कि उन्हें विवेक के अध्यात्म ने कायर बना दिया है । अब उनमें यह हिम्मत नहीं रही जो अपन से लड़ने की सोचें । तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है ।"

चारों तरफ देखता हुआ सकपकाता-सा एक बोला – "ऐसी बात नहीं है, वे लोग काफी उत्तेजित हैं। हमें संभल के रहना चाहिए । अभी-अभी मुझे मुन्ने की अम्मा से पता चला है कि ···।"

"क्या ?"

"कि वे भी तैयारी कर रहे हैं ।"

"कहाँ पता चला ?"

"मन्दिर में और कहाँ ? समाज की अच्छी-बुरी बातों का पता मन्दिर में ही तो चलता है । मन्दिर में औरतें और करती भी क्या हैं ? इसी काना-फूसी के लिए तो मन्दिर हैं । यदि मन्दिर न जावें तो समाज की कुछ बातों का पता ही नहीं चलता। मन्दिर में सब पता चल जाता है कि किसका लड़का किसकी

लड़की के चक्कर काटता है, किसकी शादी में किसने कितना दहेज दिया है। आदि सभी बातें वहीं तो पता चलती हैं।

मन्दिर तो आजकल महिलाओं के लिए क्लब बन रहे हैं। जब से विवेक ने प्रवचन आरंभ कर दिया था, इन बातों का पता ही नहीं चलता था। औरतें प्रवचन में बैठ जाती थीं। प्रवचन खत्म होते ही भागने की पड़ती थी। बातों की फुरसत ही नहीं मिलती थी और अब ··· ।''

वह अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाया था कि दूसरा बोल उठा –

''हाँ, वे लोग उत्तेजित थे। बड़ी जोर-जोर से बातें कर रहे थे । शायद सब मिलकर विवेक के घर गये हैं।''

मुस्कराते हुए तीसरा बोला – ''तो कोई चिन्ता की बात नहीं है । वे कितने ही उत्तेजित क्यों न हों, विवेक उनको बिल्कुल ठंडा कर देगा । यही तो अपने पक्ष में सबसे बढ़िया बात है कि उनका नेता ही ठंडा है तो वे क्या खाकर लड़ेंगे अपन से । चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, तुम लोग आराम से रहो ।

चौथा बोला – ''यह सब काम तो उनके कार्यक्रम बिगाड़ने का हुआ । अपने को अलग से भी तो कोई कार्यक्रम बनाना चाहिए ।''

पाँचवाँ बोला – ''चल रहने दे, उनके कार्यक्रम को बिगाड़ना क्या कोई कार्यक्रम नहीं है । अरे भाई ! यह भी तो एक कार्यक्रम ही है । अपने को तो बाबाजी ने यही कार्यक्रम सौंपा था, सो अपन ने पूरा कर दिया ।''

''फिर भी ··· ।''

''फिर भी क्या ?''

''अपन को कुछ-न-कुछ रचनात्मक कार्य अवश्य करना चाहिए ।''

''रचनात्मक-फचनात्मक अपन कुछ नहीं जानते । चलो, बाबाजी से ही पूछेंगे । वे जो कहेंगे, करेंगे । या फिर उन्हीं को ले आवेंगे, जो उन्हें करना होगा, वे ही करेंगे । अपन तो··· ''

सब बोले – ''ठीक है, ठीक है ।''

बाबाजी को लाने को डेपूटेशन ले जाने का निश्चय कर, वे लोग भी सब अपने-अपने घर चले गये।

२१

धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के नाम पर अपनी स्वार्थसिद्धि करने वाले लोग तो पग-पग पर मिलेंगे, किन्तु निःस्वार्थभाव से धार्मिक एवं सामाजिक कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता समाज में बहुत कम मिलते हैं। यही कारण है कि 'दान की गाय के दाँत नहीं होते' की कहावत के अनुसार धार्मिक और सामाजिक कार्य सब जगह ऐसे ही चलते हैं ।

दो-चार दिन के उत्सव में दौड़-दौड़कर काम करना अलग बात है और किसी भी धार्मिक व सामाजिक कार्य को सदैव नियमितरूप से निभाना अलग बात। यही कारण है कि सर्वत्र मन्दिरों में चलनेवाले शास्त्र-प्रवचन आदि धार्मिक महत्व के दैनिक कार्यक्रम बहुत से मन्दिरों में तो चलते ही नहीं, जिनमें चलते भी हैं, वे भी नाम-मात्र के ही चलते हैं। जिसके बत्तीसों दाँत गायब हैं - ऐसा कोई एक वृद्ध शास्त्र पढ़ने वाला और लटकी गर्दन के अधबहरे दो-चार स्त्री-पुरुष सुनने वाले होते हैं।

विवेक जिस मन्दिर में प्रवचन करता था, उस मन्दिर को छोड़कर विदिशा के भी शेष सभी मन्दिरों की यही स्थिति थी।

पूर्व निश्चयानुसार जब विवेक के साथी समाज के प्रमुख व्यक्तियों के पास पहुँचे और सारी स्थिति उनके सामने स्पष्ट कर यह बात रखी कि हम लोग किराये से अलग स्थान लेकर सामूहिक स्वाध्याय का क्रम चलाना चाहते हैं और यदि हमारे दर्शन-पूजन में भी विघ्न उपस्थित हुआ तो फिर नया मन्दिर बनाने की भी सोचेंगे।

यह बात सुनकर सभी गम्भीर हो गये ।कुछ देर तक कोई कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर बाद गम्भीर स्तब्धता को भंग करते हुए प्रमुख व्यक्तियों में से एक बोला -

"हमारे पूर्वजों द्वारा निर्मित जो अनेकानेक विशाल मन्दिर विद्यमान हैं, वे ही सूने पड़े रहते हैं, उन्हें भी संभालने वाला कोई नहीं है। हमें तो उनके

भी दर्शन-पूजन करने वाले दिखाई नहीं देते और आप लोग नये मन्दिर बनाने की बात करते हो ।

सभी स्वाध्याय-भवन खाली पड़े रहते हैं, उनमें तो कोई शास्त्र पढ़ने वाला नहीं मिलता और आप लोग सामूहिक स्वाध्याय के लिये किराए पर मकान लेने की बात करते हो । हमारी तो समझ में कुछ नहीं आता ।

क्या ये मन्दिर आपके नहीं हैं ? जो कुछ करना है इन्हीं में करिये; दर्शन-पूजन, स्वाध्याय। और जो कुछ खर्च करना हो; वह भी इन्हीं की मरम्मत में, इनके ही विकास में करिए ।''

वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने वाली उनकी बात को सुनकर विवेक का एक साथी बोला - ''यही तो हम सोचते हैं, पर हमारी भी समझ में नहीं आता कि हम क्या करें? हम तो सभी मन्दिरों को अपना ही समझते हैं; उनमें ही दर्शन-पूजन और स्वाध्याय करना चाहते हैं। और जो कुछ भी बनेगा, इनकी सुरक्षा और विकास के लिए खर्च भी करना चाहते हैं। अभी तक यही सब-कुछ करते भी रहे हैं। पर क्या करें? जब शान्ति से कोई करने दे, तब न ?''

''कौन नहीं करने देता ?'' उत्तेजित होते हुए जब दूसरे प्रमुख व्यक्ति ने कहा, तब विवेक का साथी बोला - ''कोई भी, जिसके मन में आता है, वही उधम मचाने लगता है। सभा के बीच में ही अनाप-शनाप बोलने लगता है; जो कुछ भी मन में आता है, बोले चला जाता है। कोई कुछ कहे तो लड़ने को तैयार। आप तो कभी प्रवचनों में पधारते नहीं।''

''भाई ! हमें समय नहीं मिलता, इसलिए नहीं आ पाते। सुना है - विवेक बाबू बहुत अच्छा प्रवचन करते हैं । हम भी कभी आवेंगे। उनका प्रवचन सुनने ।''

''आप लोग - समाज के प्रमुख व्यक्ति — नहीं आते, इसीलिए यह सब होता है । यदि आप लोग स्वयं धार्मिक कार्यों में रुचि लेने लगें तो सब समस्यायें हल हो जावें । फिर एक तो मन्दिर में कोई उपद्रव होंगे ही नहीं और होंगे भी तो आप लोग संभाल लेंगे।''

"अच्छा ! तुम अब फिर विवेक के प्रवचन मन्दिरजी में ही आरंभ कराओ। हम भी आवेंगे उनके प्रवचन सुनने, देखें फिर कौन उपद्रव करता है?"

जब एक प्रमुख व्यक्ति ने यह कहा, तब तत्काल दूसरा बोला –

"ऐसा नहीं करो। जब इतनी बात बढ़ गई है तो एक बार पंचायत बुलाकर सब तय कर लेना चाहिए । दूसरे पक्ष वालों की भी बात सुनना चाहिए ।"

तीसरा बोला — "ऐसी छोटी-छोटी बातों पर पंचायत बुलाने लगे तो फिर हो गया काम। इसमें क्या बात है पंचायत बुलाने की?"

चौथा कहने लगा – "बात कैसे नहीं है ? यही छोटी-छोटी बातें ही तो बड़ा रूप धारण कर लेती हैं। किसी भी बात को छोटी नहीं समझना चाहिए। बाद में जब यही बात बड़ा रूप धारण कर लेती है, तो संभालना कठिन हो जाता है।"

दूसरा कहने लगा – "आप यह मानकर क्यों चलते हैं कि जो इन्होंने कहा, वही सही है। हो सकता है कोई और ही बात हो। आज तक तो प्रवचन के बारे में मन्दिर में कभी झगड़ा हुआ ही नहीं । आज ही क्यों होने लगा ? इस बात पर भी तो विचार करना चाहिए ।"

तीसरे ने कहा – "जब प्रवचन में लोग पहुँचते ही न थे, तब क्या झगड़ा होता ? वैसे ही दो-चार बूढ़े-ठेढ़े लोग बैठे रहते थे । वे क्या झगड़ते ? अब जब जवान, युवक, बच्चे सभी जुड़ते हैं, तो बातचीत होती ही है ।"

चौथा कहने लगा – "यदि बातचीत ही होती है, तो फिर क्या परेशानी है ? बातचीत को झगड़ा क्यों कहते हो ?"

जब बात यहाँ तक पहुँच गई तो विवेक का साथी बोला – "बातचीत नहीं साहब ! हो-हल्ला होता है । एकाध बार तो मारपीट भी हो चुकी है ।"

"क्या कहा मारपीट ?" – जब आश्चर्यचकित होते हुए प्रायः सभी एक साथ बोले तब विवेक केएक साथी ने अपने हाथ की चोट दिखाते हुए कहा – "देखिए, साहब ! अभी तक पट्टी बँधी है ।"

सभी कहने लगे – "तब तो बात गम्भीर है ।"

अन्ततः पंचायत बुलाने के निर्णय के साथ बात समाप्त हुई ।

समाज के प्रमुख व्यक्तियों से मिलकर जब विवेक के साथी वापिस आ रहे थे तब प्रसन्न होते हुए उनमें से एक बोला - "बहुत अच्छा रहा, अब पंचायत में सब ठीक हो जावेगा - दूध का दूध और पानी का पानी ।"

उसकी बात को बीच में ही काटते हुए दूसरा बोला - "हो गया, पंचायतों में यही होता होता तो फिर क्या बात थी ?

समाज के प्रमुख व्यक्तियों को धर्म-कर्म से तो कुछ लेना-देना है नहीं; उन्हें अपने धन्धे-पानी से ही फुरसत नहीं है । वे अपने वैभव के कारण समाज-प्रमुख बने हैं; धार्मिक ज्ञान और आचरण के कारण नहीं । उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान तो बहुत दूर, आध्यात्मिक रुचि भी कहाँ है ?

सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के प्रति भी सतर्कता दिखाई नहीं देती । समाज में इतना बड़ा झगड़ा हो गया और इन्हें कुछ पता ही नहीं। न मालूम कहाँ रहते हैं, समाज में रहते होते तो उन्हें सब पता होता । यदि आज अपन नही बताते तो ··· ?"

उसकी बात पूरी ही न हो पाई थी कि तीसरा बोल उठा -

"तुम तो व्यर्थ ही उनकी आलोचना करने लगे । उनकी रुचि-अरुचि से तुम्हें क्या लेना-देना ? उनका भला-बुरा उनके परिणामों के अनुसार होगा । अपने प्रति तो उन्होंने सहानुभूति ही दिखायी । देखो तत्काल पंचायत की बैठक बुलाली और अब··· ।"

"हाँ ! हाँ !! रहने दो" - बीच में ही दूसरा बोला - "जब पंचायत होगी तब पता चलेगा । अभी तुमने पंचायतें देखी नहीं हैं । एक तो पंचायत का होना ही मुश्किल है - तारीखों पर तारीखें बढ़ेंगी - कभी किसी को फुरसत नहीं, तो कभी किसी को नहीं । सब कामवाले आदमी हैं, तुम जैसे फालतू थोड़े ही हैं जो ··· । जब होगी तब देखना क्या-क्या तमाशे होते हैं ?"

"तमाशे किस बात के ?"

"होगी तब पता पड़ेगा । कोई कुछ कहेगा कोई कुछ । अनेकों गड़े मुर्दे उखाड़े जायेंगे । दुनिया भर की ऊल-जलूल बातें होंगी । एक तो किसी निर्णय पर पहुँचना ही सम्भव नहीं होगा - ऐसे ही होहल्ला में पंचायत समाप्त हो

जावेगी ? यदि किसी निर्णय पर पहुँचे भी तो वह यह भी हो सकता है कि जब झगड़ा होता है तो फिर विवेक का शास्त्र-प्रवचन बन्द ही क्यों न रखा जाए ? जैसा पहिले चलता था, वैसा ही चलने दिया जाये । और यह निर्णय भी समाज में संगठन और शान्ति बनाये रखने के नाम पर लिया जाएगा। पंचायतों में प्राय: हर अच्छे काम का विरोध इसी तर्क के आधार पर किया जाता है । अपनी सर्वोच्चता एवं यथास्थिति कायम रखने के पक्षपाती पंचगण भी कोई हलचल स्वीकार नहीं करते । क्योंकि हलचल और जागृति से उनकी सर्वोच्चता खतरे में पड़ सकती है।"

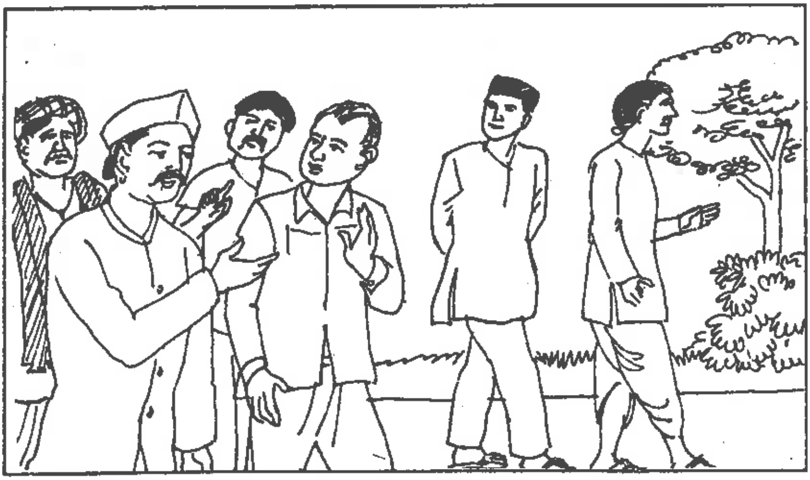

जब उसकी बात समाप्त हुई तो आशंकित-सा एक बोला -

"यदि ऐसी बात है तो फिर हम पंचायत बुलावें ही क्यों ?"

पंचायती मामलों में प्रवीण दूसरा व्यक्ति कहने लगा - "अब आपके हाथ में है ही क्या ? आप बुलानेवाले या नहीं बुलानेवाले होते कौन हैं ? जब उन लोगों ने तय कर लिया तो पंचायत बुलाई ही जावेगी ।"

"तो ठीक है, बुलाने दो । जो कुछ निर्णय होगा, देखा जायेगा ।"

"देखा क्या जाएगा? निर्णय तो तब होगा, जब मीटिंग बुलाई जावेगी।"

"आप कहना क्या चाहते हैं ?"

"यही कि मीटिंग बुलाने में अनावश्यक देरी होगा । हो सकता है दो-चार माह तो यों ही निकल जावें ।"

"निकल जाने दो, उससे अपने को क्या परेशानी है ?"

"यही कि तबतक अपना सामूहिक स्वाध्याय बन्द रहेगा ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि अब अपन न तो किराये से स्थान लेकर अलग ही स्वाध्याय कर सकते हैं और न मन्दिर में ही ।"

"ऐसा क्यों"

"इसलिए कि किराये के स्थान पर स्वाध्याय की बात तो इसलिए टल गई कि सभी मन्दिर यों ही खाली पड़े रहते हैं, उनमें ही कोई स्वाध्याय करनेवाला नहीं है । उन्हीं में करिये जो कुछ करना है । और जब मन्दिर में करने की बात हुई तो पंचायत बुलाने की बात सामने आ गई ।"

"यह तो 'कश्मीर' जैसा मामला उलझ गया ।"

"कश्मीर जैसा कैसे ?"

"राष्ट्रसंघ में कश्मीर का मामला ले जाने से आज तक उसका कोई हल नहीं निकल सका । विश्व की राजनैतिक पंचायतों में उलझे उसे तीस वर्ष होने को आए, कुछ होता ही नहीं । वहाँ नहीं जाता तो कुछ हल निकल ही आता। दो-दो बार तो उसके कारण भारत को युद्ध में उलझना पड़ा

इसीप्रकार अब अपना सामूहिक स्वाध्याय भी पंचायतों के चक्कर में फँस गया है ।"

"हो तो ऐसा ही गया है, पर देखें, अब क्या होता है ?"

"पंचायत के भरोसे बैठे रहने के बजाय कुछ करना चाहिए ।"

"अब तत्काल कुछ नहीं किया जा सकता ।"

इसप्रकार की चर्चा करते हुए सब उदास-उदास से अपने-अपने घर चले गए।

२२

जिनका अपना कुछ कार्यक्रम नहीं होता, मात्र दूसरों के अच्छे कार्यों का विरोध करना ही जिनका उद्देश्य होता है; वे लोग उस समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ एवं निठल्ले-से हो जाते हैं, जबकि जिनका वे विरोध कर रहे थे, वे शान्त व निष्क्रिय हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें कुछ दिखता ही नहीं कि अब क्या करें ? किन्तु जब दुबारा कोई अच्छे कार्यक्रम चलाने के लिए प्रयत्नशील होता है, तो वे फिर सक्रिय हो जाते हैं; उन्हें फिर एक काम मिल जाता है।

जब से विदिशा में विवेक के प्रवचन आदि धर्म-प्रभावना के कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो गए थे, उसमें और उसके साथियों में एक प्रकार की निष्क्रियता-सी छा गई थी, तब से ही विवेक के विरोधी भी निष्क्रिय एवं शान्त थे। किन्तु जब उन्हें पता चला कि विवेक के साथी समाज के प्रमुख व्यक्तियों के पास गए थे और समाज के प्रमुख व्यक्तियों ने उक्त संदर्भ में पंचायत बुलाने का निर्णय लिया है, तब वे भी सक्रिय हो गए।

उन्होंने भी समाज के प्रमुख व्यक्तियों से सम्पर्क करना आरम्भ कर दिया। विवेक व विवेक के साथियों के विरुद्ध समाज के प्रमुख व्यक्तियों को तरह-तरह से भड़काना आरम्भ कर दिया। समाज-प्रमुखों को वास्तविकता की कुछ खबर तो थी ही नहीं, वे भी संशय में पड़ गए।

विवेक के विरोधियों ने सोचा अब 'स्टे आर्डर' तो हो ही गया। जबतक पंचायत न होगी तबतक वे कहीं कुछ कार्यक्रम तो चला ही नहीं सकते। किन्तु यदि पंचायत हुई और कदाचित् उसमें उनके अनुकूल निर्णय हो गया तो फिर उनके कार्यक्रम आरम्भ हो जावेंगे। अतः पहिले तो अपने को यही यत्न करना चाहिए कि पंचायत हो ही नहीं।

यदि यह सम्भव न हो तो जितनी बन सके, उसमें देरी की जावे। पंचायत होने में जितनी देर होगी, विवेक के साथियों में उतनी ही निराशा फैलेगी। धीरे-

धीरे वे बिखर जावेंगे। देरी होने में एक लाभ यह भी है कि तबतक अपने को समाज के प्रमुख व्यक्तियों का मन विवेक के विरुद्ध करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा।

इसप्रकार चुपचाप विवेक और विवेक के साथियों के विरुद्ध समाज व गैर-समाज के भी प्रमुख व्यक्तियों के बीच नियोजित दुष्प्रचार चलने लगा ।

पंचायत की मीटिंग भी बराबर टलती जा रही थी। उसके लिए सुविधाजनक कोई तिथि ही निश्चित नहीं हो पा रही थी। यहाँ विवेक के साथियों का प्रमुख व्यक्तियों के घर चक्कर काटते-काटते धैर्य समाप्त हो रहा था। अतः उन्होंने फिर एक बार सामूहिक रूप से प्रमुख व्यक्तियों से मिलने का निश्चय किया।

अब की बार जब वे प्रमुख व्यक्तियों से मिले तो उन्होंने पंचायत की मींटिग होने में अनावश्यक होने वाली देरी के प्रति अपना असंतोष व्यक्त करते हेतु अत्यन्त दृढ़ एवं स्पष्ट शब्दों में कहा कि जबतक पंचायत की मीटिंग नहीं होती और कोई निर्णय नहीं हो जाता तबतक के लिए हम अपने सामूहिक स्वाध्याय के लिए किराए का स्थान लिये लेते हैं। जब आपकी स्वीकृति प्राप्त हो जावेगी तब हम वह स्थान छोड़ कर मन्दिर में स्वाध्याय आरम्भ कर देंगे।

उनकी दृढ़ता को देख प्रमुख व्यक्तियों को यह समझते देर न लगी कि अब मीटिंग को और अधिक टाला नहीं जा सकता । परिणामस्वरूप पंचायत की मीटिंग के लिए एक तिथि निश्चित हो ही गई।

फिर क्या था ? दोनों ही ओर से पंचायत में अपनी बात मनवाने के लिए जोरों से तैयारियाँ होने लगीं।

अन्ततोगत्वा वह दिन भी आ पहुँचा जिस दिन पंचायत होने वाली थी । आज की मीटिंग में अनावश्यक भीड़ इकट्ठी हुई थी। वातावरण में एक विचित्र प्रकार का तनाव था। सब-कुछ मिलाकर यह एक असामान्य मीटिंग थी । ऐसा लग रहा था जैसे कुछ विशेष घटित होने जा रहा है ।

वातावरण की उत्तेजना को देखते हुए विवेक स्वयं तो मीटिंग में पहुँचा ही नहीं, साथ ही उसने अपने साथियों को भी यह वचन लेने के बाद ही जाने दिया था कि कितने ही उत्तेजना के क्षण क्यों न आवें, वे किसी भी स्थिति में

उत्तेजित नहीं होंगे ।कोई कुछ भी क्यों न कहे, वे सीमा में रहेंगे। निर्णय कुछ भी क्यों न हो, वे उस पर तत्काल कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेंगे ।अपने आगामी कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक साथ बैठकर गम्भीर विचार-विमर्श के बाद ही कोई निर्णय लेंगे।

अपनी बात दृढ़ता से रखने की उन्हें पूरी छूट थी, पर उत्तेजित होने की बिल्कुल नहीं।

अन्ततः वह बहुचर्चित मीटिंग आरम्भ हुई ।आरम्भ में संचालक महोदय ने मन्दिरों की स्थिति, नई पीढ़ी द्वारा धार्मिक कार्यों के प्रति अरुचि और उपेक्षा, पूजन-पाठ और स्वाध्याय करने वालों की निरन्तर कमी, वर्त्तमान पीढ़ी में नैतिक जीवन और सदाचार की कमी की चर्चा करते हुए सामूहिक स्वाध्याय पर बल दिया। समाज के सभी लोगों से इनमें अधिकाधिक रुचि लेने की अपील करते हुए विवेक द्वारा मन्दिरजी के स्वाध्याय भवन में प्रवचन करने की चर्चा की तो एक महानुभाव उठकर खड़े हो गए और कहने लगे -

"यह सब तो ठीक है, पर आजकल अपने समाज में दहेज के लेन-देन ने भयानक रूप धारण कर लिया है ।लोग टीके में ही बीस-बीस हजार माँगने लगे हैं ।बीस-बीस वर्ष की सैकड़ों लड़कियाँ कुँआरी बैठी हैं ।शादी न होने पर यदि वे किसी के साथ भाग जावें तो क्या होगा ? कभी आपने इस पर भी विचार किया है। सबसे पहले इस पर विचार होना चाहिए ।"

इस पर टिप्पणी करते हुए संचालक महोदय ने कहा — "आपकी बात भी ठीक है, यह भी समाज की एक ज्वलन्त समस्या है, इस पर भी गंभीरता से विचार करना चाहिए, पर आज के एजेन्डा में यह बात नहीं है ...।"

"एजेन्डा-फेजेन्डा हम कुछ नहीं जानते ।" - उनकी बात काटते हुए तीसरा बोल उठा। जोर-जोर से चिल्लाते हुए कहने लगा —

"आप लोग तो दो नम्बर वाले हो। चाहे जितना खर्च कर सकते हो, गरीबों की ओर भी देखना चाहिए। पहले इस पर विचार कीजिए, तब और कोई बात होने देंगे।"

उनको शांत करते हुए अध्यक्ष महोदय ने कहा — "इस पर भी विचार करेंगे — आप जरा बैठिये तो ··· ।"

बहुत प्रयत्न करने के बाद बड़ी कठिनता से अध्यक्ष महोदय उनको बैठा ही न पाए थे कि एक दूसरे उठ खड़े हुए और कहने लगे —

"अपने स्कूल में बॉयलोजी की कक्षा खुलनी चाहिए। बॉयलोजी नहीं होने से समाज का बहुत बड़ा नुकसान हो रहा है। अपने समाज के बच्चे डॉक्टरी में जा ही नहीं पाते हैं।"

अध्यक्ष महोदय या संचालक कुछ कहते - इसके ही बीच में एक और उठ खड़े हुए और जोर-जोर से कहने लगे —

"यह हत्यारा काम हम अपने स्कूल में नहीं होने देंगे।"

फिर क्या था? चारों ओर होहल्ला होने लगा । अब सभी बोलने लगे थे। कोई किसी की सुनने वाला नहीं था।

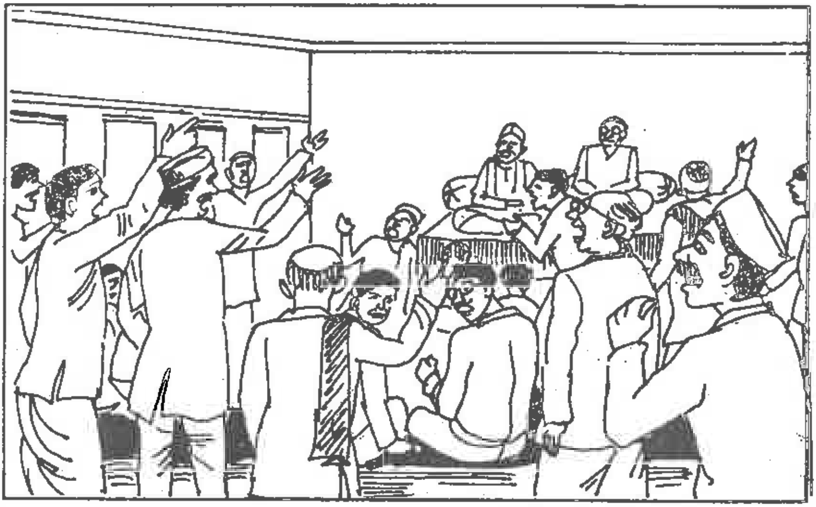

ऐसा लगने लगा था कि सभा यों ही समाप्त हो जावेगी। कोई निर्णय होना सम्भव नहीं है। निर्णय तो बहुत दूर की बात, अभी तो चर्चा का ही ठिकाना नहीं था। पर संचालक और अध्यक्ष महोदय इन बातों में अनुभवी आदमी थे। वे सहज ही हार मानने वाले नहीं थे।

हाथ-पैर जोड़कर किसी भी तरह उन्होंने सभा को शांत किया और विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हुए तरकीब से धीरे से उसी सभा से यह बात स्वीकार करवाली कि उनकी आज्ञा बिना कोई नहीं बोलेगा। वे सबको बोलने का समय देंगे। सब अपने नाम लिखकर दे दें।

फिर क्या था -- बोलने वालों के नाम के सैकड़ों पर्चे आ गए। यह तो निश्चित ही था कि सभी को समय देना सम्भव नहीं।

यद्यपि स्थिति कठिन थी, तथापि वे भी इस कला में पारंगत थे; अतः उन्होंने शान्तिपूर्वक सभा का संचालन आरम्भ किया। उन्होंने सभी पर्चे रख लिए और उन लोगों को बोलने के लिए बुलाना आरम्भ किया जो अपेक्षित चर्चा ही करेंगे।

सबसे पहले उन्होंने विवेक के विरोधियों को ही बोलने का अवसर दिया।

उन्होंने विवेक पर भरपूर वार किए। उस पर सच्चे-झूठे मनगढ़न्त अनेक आरोप लगाए।

विवेक के साथियों को भी बोलने का समय दिया गया। उन्होंने भी जहाँ तक बन सका आरोपों का पूरा-पूरा प्रतिवाद किया। पलटकर उन पर शांति भंग करने के आरोप भी लगाए।

सभी को सन्तुष्ट करने के लिए सभा में बोलने वालों का सिलसिला इतना लम्बा चला कि लोग बिखरने लगे। मीटिंग के आरम्भ की उत्तेजना क्रमशः क्षीण होती गई। सभी के गुबार निकल चुके थे। अब सभी चाहते थे कि सभा शीघ्र समाप्त हो।

सभा के वातावरण से प्रमुखों की समझ में यह बात अच्छी तरह आ गई थी कि यदि विवेक के प्रवचनों के लिए स्वीकृति न दी गई तो उनके साथी निश्चित रूप से अलग व्यवस्था करेंगे। उसके कारण खाई और बढ़ेगी तथा एक दिन नए मन्दिर बनने का भी उपक्रम आरम्भ हो जावेगा।

ये लोग उत्साही कार्यकर्त्ता हैं, लगन वाले हैं, और खर्च भी करते हैं। समाज का विघटन तो होगा ही, साथ ही इनके नए मन्दिर में तो हलचल, भीड़भाड़ रहेगी और ये पुराने मन्दिर और अधिक वीरान हो जावेंगे। अपन

लोगों को फुरसत है कहाँ? और ये विरोध करने वाले भी सिर्फ झगड़ा करना ही जानते हैं, कोई व्यवस्थित कार्यक्रम चलाना नहीं।

अतः विवेक के प्रवचन के लिए मन्दिर में ही स्थान दिए जाने में ही समाज का और सबका लाभ है।

इसी विचारधारा के कारण उन्होंने सोच लिया था कि किसी न किसी प्रकार यह बात स्वीकृत करानी ही है। वे सब चतुर आदमी थे। जो कुछ ठान लेते थे, वह करा ही लेते थे।

अपने अन्तिम अध्यक्षीय उपसंहारात्मक व्याख्यान में उन्होंने विवेक के विरोधियों से आग्रह किया कि आप लोग मन्दिर में प्रतिदिन की सभा का संचालन करें।

इसके लिए वे तैयार न थे। उनकी उत्सुकता तो प्रवचन बन्द कराने में थी, करने में नहीं। उन्होंने सोचा भी न था कि इसप्रकार का प्रश्न भी सामने आ सकता है; अतः वे कुछ भी उत्तर न दे सके, एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

अध्यक्ष महोदय इस बात को अच्छी तरह जानते थे। इसीलिए तो उन्होंने यह तीर फेंका था। जब वे सभी चुप रहे तो मौका देखकर अध्यक्ष महोदय ने विवेक के साथियों से प्रस्ताव किया कि आप लोग ही विवेक बाबू के नेतृत्व में दैनिक प्रवचन सभा का संचालन कीजिए।

विवेक के साथियों ने जब फिर उपद्रव होने की आशंका प्रगट की तो सबने कहा — "हम सब उपस्थित रहेंगे, देखें कौन उपद्रव करता है?"

इसप्रकार सर्वसम्मति से फिर एक बार मन्दिर में ही विवेक का प्रवचन आरम्भ हो गया। ●

२३

आरम्भ में जब सत्य बात का विरोध होता है तो कुछ समय को ऐसा लगने लगता है कि यह बात अधिक चलेगी नहीं, दब जावेगी । तीव्रतम विरोध के कारण जब सत्य के प्रचार की गतिविधियाँ कुछ दब-सी जाती हैं या कुछ दिनों को बन्द हो जाती हैं तो यह भी लगने लगता है कि यह बात समाप्त हो गई है, अब इसके उभरने का कोई अवसर नहीं।

पर यह सब स्थिति क्षणिक होती है। वस्तुतः होता तो यह है कि **दबाने से सत्य अपनी शक्ति और सन्तुलित तैयारी के साथ तेजी से उभरता है इसलिए तो कहा जाता है कि विरोध प्रचार की कुंजी है ।**

वस्तुतः विरोध से होता यह है कि वह बात विरोधियों के माध्यम से उन लोगों तक भी पहुँच जाती है, जिनके पास प्रचारकों के माध्यम से पहुँचना सम्भव नहीं होता; क्योंकि जहाँ प्रचारकों के प्रवेश व पहुँच नहीं होती, वहाँ विरोधियों की होती है।

विवेक की बात भी जिन लोगों तक विवेक और विवेक के साथी नहीं पहुँचा पा रहे थे, विरोधियों ने पहुँचा दी। भले ही वह विकृत रूप में पहुँचाई हो, पर पहुँचाई तो। उससे उन लोगों में विवेक की बात जानने की जिज्ञासा तो जगी। जिज्ञासा से प्रेरित होकर वे जब विवेक की बात सुनने लगे, तब विवेक के द्वारा प्रतिपादित सत्य भी धीरे-धीरे समझने लगे।

झगड़े के कारण भी एक लाभ हुआ। वह यह कि जो समाज के प्रमुख व्यक्ति विवेक के प्रवचन में नहीं आते थे, अब वे भी सामाजिक शान्ति बनाये रखने के लिए ही सही, आने लगे। इसप्रकार अब विवेक के प्रवचनों में श्रोताओं की संख्या पहले से तिगुनी रहने लगी। उसकेसाथी तो आते ही थे, विरोधी तथा मध्यस्थ तथा समाज-प्रमुख भी आने लगे।

उसकी बात सच्ची और अच्छी तो थी ही; अब उसकी शैली में सहज सरलता, रोचकता के साथ-साथ गंभीरता भी बढ़ गई थी। उसके अध्ययन और अनुभव की छाप उसके प्रवचनों में स्पष्ट झलकती थी ।

उसके दैनिक प्रवचनों में श्रोताओं की ही नहीं, अपितु उसके साथी और सहयोगियों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही थी। जो लोग मात्र देखने आते थे, उनमें से कुछ-न-कुछ प्रभावित हुए बिना न रहते। कुछ प्रमुख व्यक्ति भी उनके प्रवचनों में रस लेने लगे । उनमें भी रुचि जागृत होने लगी ।

विरोध, झगड़ा, पंचायत और उसके बाद विवेक के प्रवचनों के आरम्भ होने से जन-साधारण में यह धारणा भी बनी कि पंचायत में विवेक के साथियों की विजय हुई । अतः हमेशा सत्ता के साथ रहने की मनोवृत्ति वाले लोग भी सहज विवेक के पक्ष में हो गए ।

'खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है' की लोकोक्ति के अनुसार खरबूजे जैसे स्वभाव के लोग भी औरों को देखकर रंग बदलने लगे ।

अब विदिशा की स्थिति एकदम पलट गई थी ।

विरोध, झगड़ा, मारपीट, पंचायत आदि का चक्कर चलने से यह चर्चा आस-पास के नगरों में भी फैली । अतः आस-पास के लोग भी जब कभी अपने काम से विदिशा आते तो विवेक के प्रवचनों में अवश्य पहुँचते। वहाँ जो कुछ भी सुन जाते, उसकी चर्चा अपने यहाँ करते ।

कुछ दिनों बाद वे उसके प्रवचन सुनने के लिए ही आने लगे । वे आठ-आठ दिन रुकते भी, उसके प्रवचनों का आनन्द लेने के लिए ।

अब तो मन्दिरजी का स्थान छोटा पड़ने लगा था । धर्मशाला भी सदा भरी रहती । लोगों को ठहरने को जगह भी नहीं मिलती । अतः चर्चा चली तो विवेक के साथियों ने मन्दिर के ही प्रांगण में एक विशाल प्रवचन-मण्डप बनाने का प्रस्ताव समाज के सामने रखा। समाज से सहर्ष स्वीकृति प्राप्त होने पर उन लोगों ने दिल खोलकर खर्च किया और थोड़े ही दिनों में एक विशाल प्रवचन-मण्डप बनकर तैयार हो गया।

अब विदिशा में विरोध एक प्रकार से समाप्त हो गया था। बहुत से विरोधी तो अब विवेक के कार्यक्रमों में ही रस लेने लगे थे। थोड़े बहुत बचे थे, जो

वातावरण देखकर चुप थे। जो पक्ष अपनी अन्तर की प्रेरणा से खड़ा होता है, वह तो अमिट होता है; किन्तु जो बाहर से खड़ा किया जाता है, उसके पैरों में इतनी शक्ति और सामर्थ्य नहीं होती जो अधिक टिक सके ।

धार्मिक जागृति के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं के भी सहज समाधान होने लगे ।

एकदिन विवेक ने सामाजिक कोढ़ दहेज पर भी सतर्क एवं हृदय को मथ देने वाला प्रकाश डाला और समस्त समाज से मार्मिक अपील की कि कम से कम विदिशा से स्तर पर तो इसे समाप्त कर ही देना चाहिए । उसकी अपील पर उसी प्रवचन-मण्डप में समाज की एक आम सभा बुलाई गई और भरपूर विचार-विमर्श के बाद वैवाहिक लेन-देन के सन्दर्भ में एक आचार संहिता बनाई गई और सबने उस पर चलने का दृढ़ संकल्प व्यक्त किया ।

दहेज के साथ-साथ अभक्ष्य-भक्षण, रात्रि-भोजन आदि धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध भी वातावरण बनाया गया। बच्चों में धार्मिक संस्कार डालने एवं धार्मिक ज्ञान कराने के लिए धार्मिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था के लिए भी निर्णय लिए गए ।

महिलाओं में भी जागृति आई। उनका मण्डल अलग बन गया। दोपहर में जब पुरुष वर्ग व्यापारादि कार्यों में व्यस्त रहता, तब महिलाओं की सभा जुड़ती। प्रवचन होता, पर इसमें सब महिलायें ही होतीं - प्रवचन करने वाली और सुनने वाली भी। विशिष्ट धार्मिक अध्ययन के लिए प्रौढ़ महिला पाठशाला भी चलाई गई ।

कुछ ही वर्षों में विदिशा आस-पास के नगरों के लिए धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से एक अनुकरणीय नगर बन गया ।

जहाँ एक ओर अनेक लाभ हुए, वहीं अनेक समस्यायें भी उठ खड़ी हुईं। अब प्रत्येक घर में विवेक की पहुँच हो गई थी। प्रत्येक घर का कोई न कोई, चाहे वह महिला हो या बालक या पुरुष; उसके प्रवचन में आने लगा था। वे लोग इतने रुचिवंत हो गए थे कि अब वे विवेक का कोई भी कार्यक्रम नहीं छोड़ना चाहते थे। अतः घर-घर में कुछ तनाव-सा-पैदा होने लगा था ।

पति कहता मुझे नौ बजे रोटी चाहिए। पत्नी कहती कि नौ बजे नहीं मिल सकती। या तो आठ बजे के पहले जीम लीजिए या फिर नौ बजे के बाद; क्योंकि आठ बजे से नौ बजे तक तो विवेक का प्रवचन होता है, मैं उसे नहीं छोड़ सकती।

बच्चे कहते हम शाम को खेलते हैं - अतः भोजन रात को करेंगे, पर माँ कहती मैं रात को भोजन नहीं बनाऊँगी, जिमाऊँगी भी नहीं। एक तो रात्रि को खाना ठीक नहीं, दूसरे मेरा प्रवचन छूटता है।

पत्नी-बच्चे कहते आज शाम को सिनेमा चलेंगे, पर पापा का विवेक के व्याख्यान छोड़ना सम्भव नहीं था।

यही झगड़े थे जो घर-घर में होने लगे थे। सिनेमा वालों को भी शिकायत थी कि जब से विवेक के प्रवचन चले हैं, हमारी आमदनी कम हो गई है। इसीप्रकार की शिकायतें कुछ चाट-पान वालों की भी थीं।

चोरों को कुछ सुविधा हो गई थी। जिनका पूरा परिवार विवेक के रंग में रंग गया था, उनके घर उन्हें घंटों को सहज सूने प्राप्त हो जाते थे। दहेज के नाम पर लड़के बेचने वाले भी कुछ परेशान नजर आते थे। जिन बेचारों ने वर्षों से आशा लगा रखी थी कि अब इतना दहेज मिलेगा, वह उदास थे ।

सबसे अधिक परेशान हो रहे थे पाखण्डी पण्डित और ढोंगी साधु; क्योंकि उनका तो आधार ही समाप्त हो रहा था ।

इतने लोगों को परेशानी में डालकर विवेक कैसे शान्ति से रह सकता था - यह एक विचारणीय बात बन गई थी ।

एक ओर सामान्यजन प्रसन्न था, मग्न था; वहीं दूसरी ओर निहित स्वार्थियों का समूह कुछ परेशानी अनुभव कर रहा था । इस परेशानी से बचने का उपाय सोच रहा था । पर कोई मार्ग नजर नहीं आता था ।

उन्हें भी कोई न कोई रास्ता मिलेगा ही; क्योंकि कहा है न कि 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ'।

कुछ भी हो इन दिनों विदिशा एक संक्रांतिकाल से गुजर रहा था।

२४

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं। सत्य की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है। इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क जरूरी है। **सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुँचना।**

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं। जहाँ एक ओर वे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुँचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते। उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जनसामान्य की समझ में सहज नहीं आ पाती। यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील हो उठते हैं।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा, जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे; तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती।

विवेक भी जब प्रवचन करता तो उसकी वाणी में शुद्ध अध्यात्म प्रस्फुटित होता। वह अपनी सशक्त वाणी से सभी को जगत से निवृत्ति की ही प्रेरणा देता, कहता - **"एक आत्मा ही उपादेय है, वास्तविक अर्थों में एकमात्र वही ध्येय है, वही ज्ञेय है, वही आराध्य है; और समस्त जगत हेय है, अध्येय है, अज्ञेय है, अनाराध्य है। आत्मार्थी का एकमात्र कर्त्तव्य समस्त जगत पर से दृष्टि हटाकर एकमात्र त्रैकालिक ध्रुव निजशुद्धात्मतत्त्व पर ही दृष्टि केन्द्रित करना है। अतीन्द्रिय सुख और आत्मशान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है।"**

उपर्युक्त अन्तरोन्मुखी वृत्ति में बाधक कर्त्तृत्व-बुद्धि का निरसन भी अपने व्याख्यान में अनेक प्रबल युक्तियों से प्रतिपादित करते हुए वह कहता -

"जबतक पर-पदार्थों में फेर-फार करने की बुद्धिपूर्वक परोन्मुखी प्रवृत्तियाँ रहेंगी तबतक सत्य को प्राप्त करना तो बहुत दूर, उसके निकट पहुँचना भी संभव नहीं है।

शुद्धात्मतत्त्वरूपी परम सत्य के साथ यह भी एक तथ्य है कि **प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, उसे अपने परिणमन में पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।** फिर भी अज्ञानी आत्मा व्यर्थ ही पर के सहयोग की आकांक्षा से व्याकुल होता है। **सत्य की प्राप्ति स्वयं से, स्वयं में, स्वयं के द्वारा ही होती है, उसमें पर की कुछ भी नहीं चलती। पर तो निमित्त मात्र है।"**

एक दिन जब वह इसीप्रकार का व्याख्यान कर रहा था, तब एक भाई ने अत्यन्त विनम्रता से जिज्ञासा प्रकट की - "आपकी बात सत्य प्रतीत होने पर भी हमारी समझ में यह नहीं आता कि आप एक ओर तो कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, कोई किसी का भला-बुरा नहीं करता है और न कर ही सकता है; दूसरी ओर औरों की भलाई के लिए आप इतने प्रयत्नशील भी दिखाई देते हैं । यह दुहरा व्यवहार कैसे ?

यदि आप क्षमा करें तो मैं एक बात पूछना चाहता हूँ कि जब आप दूसरों को समझा ही नहीं सकते तो फिर यह सब आडम्बर क्यों ? यह प्रवचन क्यों ? यह पाठशाला क्यों ? जब आपके कथनानुसार सब-कुछ क्रमबद्ध ही है - जो, जिस समय, जिसके द्वारा होना है; वह, उस समय ही, उसके द्वारा ही होगा, आगे-पीछे नहीं, अन्य के द्वारा भी नहीं - यदि यह पूर्णतः निश्चित ही है, तब फिर शीघ्र आत्महित कर लेने की प्रेरणा क्यों ?

- ये कुछ गुत्थियाँ हैं, जो बहुत-कुछ माथा-पच्ची करने पर भी सुलझती नहीं। यदि आप उचित समझें तो समाधान करें। बड़ी कृपा होगी ।"

अत्यन्त शान्त और गंभीर स्वर में विवेक बोला - "भाई ! यह प्रश्न तुम्हारा ही नहीं, सारे जगत का है । तुमने अपनी ही बात नहीं, सबके हृदय की बात कह दी है। यही समझ में आना सबसे कठिन बात है। हमारी सबसे बड़ी

कठिनाई तो यही है कि हम यह समझाना चाहते हैं कि हम किसी को समझा नहीं सकते; क्योंकि **समझ अन्दर से आती है, बाहर से नहीं।**

वस्तुत: बात तो यह ही ठीक है कि जब हम यह मानते हैं कि कोई किसी को समझा ही नहीं सकता तो फिर हमें समझाने का भाव ही क्यों आता है ? समझाने का भाव ही नहीं आना चाहिए । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि श्रद्धा में यह सत्य स्वीकृत हो जाने पर भी वर्त्तमान भूमिका में ज्ञानी को भी समझाने का भाव आए बिना नहीं रहता । यदि उसी समय किसी को अपने कारण अन्तर से कोई बात समझ में आ जाती है तो ज्ञानी को प्रसन्नता तो होती है, पर उसे समझा देने का अभिमान नहीं तथा यदि अन्य किसी को समझ में नहीं भी आता है तो ज्ञानी उसी श्रद्धा के बल से विशेष आकुलित भी नहीं होता ।

उपयुक्त श्रद्धा होने पर भी जबतक पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती, तब तक समझाने का भाव भी आए बिना रहता नहीं । यह उस समय की पर्याय की सत्ता का सत्य है ।

स्वभाव अविकृत होने पर भी पर्याय में विकृति विद्यमान है। श्रद्धा ने स्वभाव को ग्रहण किया है और वाणी में पर्याय की विकृति (राग) निमित्त है। रागनिमित्तक होने पर भी ज्ञानी की वाणी, श्रद्धा और ज्ञान की अनुसरण करने वाली होने से सत्य की प्रतिपादक है।

ज्ञानी को समझाने का राग है, अत: समझाने की क्रिया देखी जाती है । और अन्तर में सत्य श्रद्धा एवं समझ है; अत: वाणी में यह सत्य प्रतिपादित होता है कि कोई किसी को समझा नहीं सकता।

मैं समझता हूँ कि आपके प्रश्न का उत्तर प्राप्त हुआ होगा । हुआ हो तो ठीक, नहीं हुआ हो तो मैं क्या करूँ ? क्योंकि कोई किसी को समझा ही नहीं सकता । रही समझाने के प्रयत्न की बात, सो इसमें भी मैं क्या करूँ; क्योंकि बहुत प्रयत्न करने पर भी मुझे समझाने का भाव भी आए बिना नहीं रहता ।

अन्तर से समझने का प्रयत्न करते रहिए, जिज्ञासा जगाए रखिए – समय पर अवश्य और अपने आप समझ में आ जाएगा ।"

इतना कहकर ज्यों ही विवेक चुप हुआ, प्रश्नकर्त्ता बोला - "प्रश्न का उत्तर तो नहीं मिला, पर शंका का समाधान अवश्य हो गया।"

"मैं समझा नहीं, आप क्या कहना चाहते हैं ?"

जब विवेक ने यह कहा तो अपनी बात स्पष्ट करते हुए वह कहने लगा -

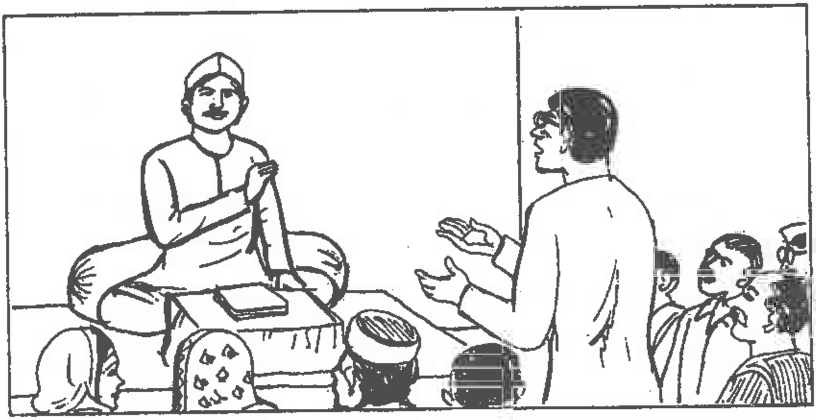

"अन्तर में पूरी तरह सत्य और तथ्य स्पष्ट नहीं होने पर भी ऐसा लगता है कि आपकी बात में वजन है, सत्यता है । पूरी तरह बात स्पष्ट न होने का कारण मुझे स्वयं की कमी लगती है । आपकी वाणी का पूरा मर्म ख्याल में नहीं आने पर भी न मालूम क्यों अन्दर से मन करता है कि आपकी बात सत्य है, उसमें कोई छल नहीं है । लगता है जैसे आप कुछ कह नहीं रहे हैं, बात अन्दर से आ रही है ।

कैसा सहज प्रतिपादन है, कोई आग्रह नहीं कि दूसरे अपनी बात मान ही लें । मानें तो ठीक, न मानें तो ठीक, कैसी अनासक्ति है । मानें तो मान नहीं, न मानें तो रोष नहीं । आपकी बात मान लेने को मन करता है। मन में अब आपके प्रति कोई शंका नहीं रही, सब शंकाओं का समाधान हो गया है । रही बात प्रश्न के उत्तर की - सो आप कह ही रहे हैं कि उत्तर अन्तर से आएगा। मुझे भी लगता है कि आएगा, अवश्य आएगा।"

वह गद्गद होते हुए कहे ही जा रहा था। विवेक ही नहीं, सारी सभा मंत्र-मुग्ध हुए सुने जा रही थी।

सभा में प्रश्नोत्तर चल रहे थे, शंका-समाधान हो रहा था। सभी मुग्ध थे, न कोई होहल्ला था, न उठा-पटक। वह नियम न मालूम कब टूट गया था कि प्रवचन के बीच में कोई बोलेगा नहीं। वह नियम समाज की प्रोसीडिंग में लिखा रह गया था। उसकी अब समाज को आवश्यकता ही नहीं रह गयी थी। वस्तुतः वह नियम शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर के विरुद्ध था ही नहीं, इनके विरोध का उसका प्रयोजन भी नहीं था। उसका प्रयोजन तो होहल्ला और उठा-पटक समाप्त करना था।

यद्यपि आज की सभा में प्रवचन कम और प्रश्नोत्तर या शंका-समाधान अधिक हुआ था, पर समाज ऐसी मुग्ध थी कि कुछ कहते नहीं बनता। लगता था आज एक शंकाकार की नहीं, सभी की सब शंकायें समाप्त हो गयी थीं। समाज में विश्वास का वातावरण बन गया था।

सभी कह रहे थे कि जब शंकाओं का समाधान हो गया तो प्रश्नों के उत्तर भी मिल जायेंगे।

अत्यन्त शान्त वातावरण में सब चुपचाप अपने-अपने घर चले गए।

जिसप्रकार साबुन लगाये बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगी रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो ?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ५५

२५

जब कोई व्यक्ति किसी ज्ञानी महापुरुष के ज्ञान और वैराग्य-रस से सरोबार प्रवचनों को सुनकर, उसके समुचित सदाचार और गंभीर व्यक्तित्व को देखकर सीमातीत प्रभावित हो जाता है तो उसे उसमें इतनी ऊँचाई एवं महानता दिखाई देने लगती है, जितनी कि उस भूमिका में संम्भव ही नहीं है ।

वह उसे एक तरह से परम वीतरागी ही मान बैठता है। वह उसके लिए साधारण मानव न रहकर भगवान के रूप में दिखने लगता है। न सही भगवान, पर वह उसे साधु-संत तो मानने ही लगता है; किन्तु जब वह उसका कोई रागात्मक आचरण देखता है, भले ही वह उसकी भूमिका के अनुसार ही क्यों न हो, तो एकदम आश्चर्यचकित हो जाता है; उसकी श्रद्धा को बड़ी ठेस लगती है; उसे उसमें कुछ छल-सा दिखाई देने लगता है।

यह सब उसके पर्यायगत सत्य के अज्ञान के कारण होता है। जब उसे पर्यायगत सत्य का ज्ञान होता है तो स्वयं अपनी भूल नजर आने लगती है।

आज के वातावरण से मंत्र-मुग्ध रूपमती सोच रही थी -

''कितनी महानता है मेरे पति विवेक में। उनके पास रहकर भी मैं उन्हें सही रूप में पहिचान भी न पाई थी। जब आज सारी समाज उनकी महानता से परिचित हो गई, तब मुझे उनमें महानता दिखाई दी। यद्यपि मैं यह तो जानती थी कि वे विद्वान् हैं, अध्ययनशील हैं, शांत भी हैं; पर इतना नहीं समझती थी। उनकी दूरदृष्टि का ही परिणाम है कि आज समाज में शान्ति और एकता है तथा समस्त रूढ़ियाँ और अंधविश्वास टूट रहे हैं, तत्त्वरुचि भी जागृत हुई है।

मैंने उन्हें संघर्ष करने के लिए कितना उकसाया। उन्हें कायर भी कहा। कहा ही क्यों, मैं उन्हें कायर समझने भी लगी थी। पर वे शांत ही रहे। उन्होंने संघर्ष किया तो, पर अपने तरीके से।

एक दिन उन्होंने कहा भी था कि 'रूपमती तुम उतावली न करो, मैं सत्य का उद्‌घाटन भी करूँगा और संगठन भी कायम रखूँगा। **मेरे द्वारा न सत्य की कीमत पर संगठन होगा न संगठन की कीमत पर सत्य ही छोड़ा जाएगा। धर्म के लिए सत्य जरूरी है और समाज के लिए संगठन** ।' पर मेरी समझ में उस दिन कुछ नहीं आया था। उनकी बात का मर्म आज समझ पड़ा है, जब सत्य और संगठन साथ-साथ चल पड़े हैं।

अब तो वे पूर्ण वीतरागी-से हो गए हैं। कैसी वीतरागता टपकती है उनकी वाणी से। देखते ही बनता है। सब लोग कैसे मंत्र-मुग्ध से होकर सुनते हैं।

शंकाकार की शंकायें उनमें अविश्वास व्यक्त कर रही थीं, एक प्रकार से उन्हें दोगला बता रही थीं; पर उन्होंने कितनी शान्ति और गंभीरता से उत्तर दिया। उत्तर क्या दिया दिल खोलकर रख दिया। वह ही नहीं, सारा समाज मंत्र-मुग्ध हो गया।

वस्तु के स्वरूप में भी कैसा विरोधाभास है। कोई किसी को समझा नहीं सकता, पर समझाने का भाव ज्ञानी को भी आए बिना नहीं रहता। यह पर्याय के सत्य की बात कितनी अनोखी है।''

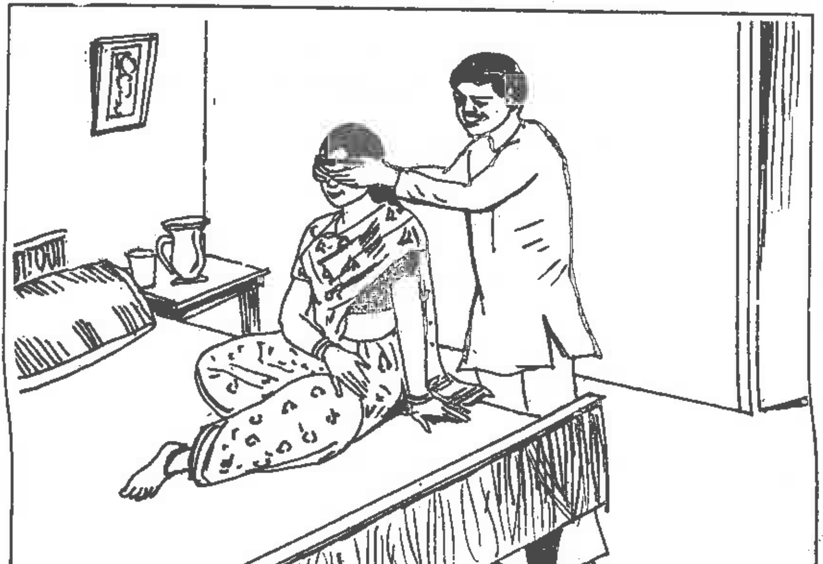

सोचते-सोचते रूपमती न जाने कौनसी दुनिया में खो गई थी कि उसे पता ही न चला कि विवेक कब आ गया, कब उसने कपड़े बदले । उसे तो तब पता चला, जबकि उसने अचानक ही पीछे से आकर दोनों हाथों से उसकी आँखें बन्द कर लीं और उससे छेड़-छाड़ करने लगा ।

रूपमती बोली - "यह भी तुम्हारा 'पर्याय का सत्य' होगा ।"

"हाँ ! हाँ! ! इसमें क्या शक" - विवेक ने उत्तर दिया ।

"रहने भी दो ।"

"क्या रहने दें ?"

"यही कि यह भी पर्याय का सत्य है। कहीं अशुभ भाव और अशुभ क्रिया - हँसी मजाक भी इसमें आता है।"

"लगता है -पर्याय के सत्य का अर्थ तुम ठीक से समझी नहीं, अन्यथा ऐसी बातें नहीं करतीं ।"

"कैसी बातें ?"

"यह कि क्या यह भी पर्याय का सत्य हो सकता है ?"

"अच्छा तो समझा दीजिए, आप अपने पर्याय के सत्य का अर्थ।"

"सुनो। जिसप्रकार ज्ञानी यह मानता और जानता है कि मैं किसी को समझा नहीं सकता, फिर भी उसे समझाने का भाव आए बिना नहीं रहता; उसीप्रकार ज्ञानी गृहस्थ यह जानते हुए भी कि इस हँसी-मजाक या पंचेन्द्रिय के विषयों में रंचमात्र भी सुख नहीं है, तथापि अपनी भूमिका योग्य हँसी-मजाक और पंचेन्द्रिय के विषयों का राग भी उसे आए बिना नहीं रहता। भूमिकानुसार अशुभ भाव की सत्ता भी ज्ञानी गृहस्थ की भूमिका में पाई ही जाती है।

इसका अर्थ यह नहीं कि वे उपादेय हैं, विधेय हैं । बात बस इतनी ही है कि उनकी भी सत्ता होती है - इसका नाम ही 'पर्याय का सत्य' है। इसका ज्ञान भी ज्ञानी को होता है अर्थात् वह यह भी जानता है कि इसमें कोई विरोधाभास नहीं है।"

"क्या कहा ? राग और वीतरागता में कोई विरोधाभास नहीं ?"

''नहीं, राग और वीतरागता में तो विरोधाभास है, पर अंशे राग और अंशे वीतरागता की एक आत्मा में एक साथ सत्ता होने में कोई विरोधाभास नहीं है अर्थात् वे एक ही आत्मा में एक साथ पाये जा सकते हैं ।

''कहाँ वे वीतरागता की बातें और कहाँ ये राग की क्रियाएँ । अपनी तो समझ में कुछ नहीं आता ।''

''जब समझ ही मोटी हो तो आएगा कहां से ?''

''आपकी बारीक समझ से हमारी मोटी समझ ही अच्छी। ऐसी भी समझ किस काम की कि जिसमें ··· ।''

उसकी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि विवेक बोल उठा –

''तुम्हारा मतलब क्या यह है कि जब आदमी पूर्ण वीतरागी हो जावे, तब उसकी समझ में वीतरागता आवे और तभी वह वीतरागता की बात करे, उसका पोषण करे, उसकी प्राप्ति की इच्छा करे। तुम्हारे हिसाब से तो जीव या तो पूर्ण रागी होंगे या फिर पूर्ण वीतरागी।''

''नहीं तो क्या ?''

''यही कि जितना राग चला गया, उतनी वीतरागता आ गई; जितना है, वह है ही। अव्रती-व्रती ज्ञानी गृहस्थ की तो यही स्थिति होती है।''

''मैंने भी तो बहुत शास्त्र पढ़ डाले, मेरी समझ में तो तुम्हारी ये बातें कुछ आई नहीं।''

''सब बातें ऐसे पढ़ने मात्र से आ जातीं तो फिर ज्ञानी गुरु के निमित्त की क्या आवश्यकता थी ?''

''अब तुम ज्ञानी गुरु के निमित्त की बात कहने लगे ?''

''कहने क्या लगे – ज्ञानी गुरु का निमित्त भी तो होता है। जो निमित्त की सत्ता से इन्कार करे, वह भी अज्ञानी ही है।''

''तो क्या निमित्त भी कुछ करता है ?''

''किसने कहा ?''

''आपने।''

''मैंने तो यह कहा है कि ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञानी गुरु निमित्त होता है।''

"यह भी तो कहा था कि निमित्त को न माने सो अज्ञानी।"

"यह तो अब भी कह रहा हूँ कि निमित्त को न माने, वह भी अज्ञानी और जो निमित्त को कर्त्ता माने, वह भी अज्ञानी।"

"यह तो बड़ा चक्कर है।"

"चक्कर-वक्कर कुछ नहीं, समझ का फेर है।"

"सच्ची समझ आये कैसे ?"

"आत्मा के अनुभव से। आत्मा के अनुभव बिना कोरे पढ़ने से, सुनने से कुछ नहीं होता। जबतक आत्मा का अनुभव नहीं होता, जीव कहीं न कहीं अटक जाता है, वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं समझ पाता। या तो वह किसी पर्याय में अटक जाता है या फिर पर्याय की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता । उसकी दृष्टि में साम्य नहीं आ पाता। उसकी मान्यता का बैलेन्स सैट नहीं होता, इधर-उधर झूलता रहता है। उसकी दृष्टि में वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप नहीं आ पाता।"

"हाँ, आप कहते तो ठीक ही हैं।"

"क्या ठीक कहता हूँ ?"

"यही कि जबतक ज्ञानी की गृहस्थावस्था रहती है, तबतक उसके देव-पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, प्रवचन आदि का शुभ राग भी पाया जाता है और साथ ही स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धी अशुभ राग भी।"

"यह तो ठीक, किन्तु ...।"

"किन्तु क्या ?"

"यही कि शुभाशुभ राग के रहते हुए भी वह उन्हें उपादेय नहीं मानता, विधेय नहीं मानता। बस उसके भी ये पाये जाते हैं – बात इतनी ही है।"

"आखिर ये क्यों पाये जाते हैं?"

"इसमें क्यों की क्या बात है? जिसप्रकार वह एक दृष्टि से त्रिकाली तत्त्व जीव है – इस कारण उसमें जीव के स्वभाव-भाव ज्ञानादि पाये जाते हैं, उसीप्रकार वह दूसरी दृष्टि से उसी समय पति भी है, पिता भी है – इस कारण

उसमें पत्नी-पुत्रादि से राग भी पाया जाता है। भले ही यह रागादि उसका स्वभाव नहीं, विभाव हैं, पर हैं तो उसके ही, अत: उसमें पाये जाते हैं ।

यद्यपि ये आश्रय करने योग्य नहीं हैं, पर जानने योग्य तो हैं ही। इन्हें न जानें तो ज्ञान झूठा और इन्हें अपना स्वभाव मान लें तो दृष्टि मिथ्या हो जाती है ।

पर्याय का सत्य भी जानने योग्य तो है ही, भले ही वह श्रद्धा करने योग्य न हो ।''

''इसके जानने से क्या लाभ है?''

''अविकृत स्वभाव जाने बिना स्वभाव का आश्रय सम्भव नहीं और भूमिकानुसार विकारी पर्याय की सत्ता के ज्ञान के अभाव में हमें ज्ञानियों में इसप्रकार की शंकाएँ होने लगती हैं कि जब ये वीतरागता की बात करते हैं तो फिर इनमें रागात्मक आचरण क्यों देखा जाता है ? पर्याय के सत्य का ज्ञान होने से ज्ञानियों में व्यर्थ की शंका नहीं होती तथा प्रयत्न करने पर भी नहीं टलने वाले स्वयं के राग भाव से भी आकुलता उत्पन्न नहीं होती। वस्तु के सहज परिणमन का ध्यान आते ही सहज शान्ति उत्पन्न होती है।''

वे दोनों इसीप्रकार की चर्चा न जाने कबतक करते रहे।

२६

कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो जगत-जन की स्थूल बुद्धि में सहज समझ में नहीं आतीं, उन्हें उसमें विरोधाभास-सा नजर आता है। वस्तु में कोई विरोध नहीं होने पर भी जब उन्हें अपने अज्ञान के कारण विरोधाभास दिखाई देता है तो वे वस्तुस्वरूप के बजाय वक्ता पर अविश्वास-सा करने लगते हैं। किन्तु ज्ञानी वक्ता द्वारा सयुक्ति खोल-खोलकर समझाये जाने पर उनकी समझ में बात कुछ जमने लगती है तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है।

आश्चर्यचकित-से वे उसके सम्बन्ध में गहराई से सोचने लगते हैं, सोचे ही चले जाते हैं। उन्हें उसमें अभूतपूर्व आश्चर्य-मिश्रित आनन्द आता है।

विवेक द्वारा 'पर्याय के सत्य' एवं 'निमित्त की स्थिति' के बारे में समझाये जाने पर रूपमती की भी कुछ इसीप्रकार की स्थिति हो रही थी।

अब उसे नींद ही नहीं आ रही थी। वह सोचे ही चली जा रही थी कि -

''वाह क्या अनोखा सत्य है, क्या अनोखा तथ्य है। अव्रती और व्रती ज्ञानी के भूमिकानुसार पर्याय में रागांश विद्यमान रहने पर भी, वह उन्हें उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता। उपादेय और विधेय नहीं मानने पर भी, नहीं चाहने पर भी, भूमिकानुसार पर्याय में राग आता ही है, टलता नहीं। यह कैसी विचित्र स्थिति है। विचित्र है, पर है।

इसीप्रकार निमित्त होता अवश्य है, पर 'पर' में करता कुछ नहीं। यह बात भी कम विचित्र नहीं है।

निमित्त होता है, पर करता नहीं; करता नहीं; पर होता है। राग होता है, पर उपादेय नहीं; उपादेय नहीं, पर होता है।''

रूपमती के दिमाग में बार-बार यही विचार चक्कर काट रहे थे। इस विचित्रता के बारे में वह जितना सोचती, उतना आनन्दित होती जाती।

आनन्दविभोर हो वह उक्त पंक्तियों को गुनगुनाने लगी।

"निमित्त होता है, पर करता नहीं; करता नहीं, पर होता है।"

उसकी गुनगुनाहट सुनकर विवेक की भी नींद खुल गई। अर्द्धरात्रि में भी रूपमती को आनन्दविभोर गुनगुनाते देख विवेक बोला — "इस नीरव निशा में जब सारा जगत सो रहा है, तुम मन ही मन किससे बातें कर रही हो, क्या गा रही हो ? ऐसी कौनसी निधि मिल गई है, जिससे नींद ही भग गई है और अपने में ही आनन्दमग्न हो रही हो, जैसे मन-माँगी मुराद पूरी हो गई हो।"

अत्यन्त प्रसन्नचित्त रूपमती बोली - "हाँ-हाँ ! मेरी मुराद पूरी हो गई है।"

"क्या कहा ?" आश्चर्यचकित होता हुआ विवेक बोला।

"यही कि मेरी मन-माँगी मुराद पूरी हो गई।"

"तो क्या तुम अब माँ बनने वाली हो ?"

"नहीं तो ···"

"फिर ···"

"फिर क्या ?"

"यही कि तुम्हारी एक मात्र तमन्ना पुत्र-प्राप्ति की ही तो थी ।"

"थी जब थी, पर अब नहीं है ।"

"कब से ?"

"तभी से, जब से तुम्हारे अध्यात्म के चक्कर में आ··· ।"

"अच्छा तो अब तुम्हें भी यह रोग लग गया है ।"

"तुम अध्यात्म को रोग कहते हो ?"

"और तुम चक्कर ?"

"यह चक्कर तो है ही, पर सब चक्करों को मेटने वाला चक्कर, सब चक्करों से बचाने वाला चक्कर ।"

"इसीप्रकार यह रोग भी है, जन्म-मरण के रोग को मेटने वाला महारोग। यह रोग जिनको एकबार लग जाता है, फिर वे रोगों की घर देह को भी छोड़, विदेह हो जाते हैं।"

"तो फिर यह अध्यात्म सभी रोगों को मेटने वाला महारोग और जगत के सभी चक्करों से बचाने वाला चक्कर है ।"

"सो तो है ही, पर तुम यह बताओ कि जब मैं सो रहा था और कोई यहाँ था नहीं, तब तुम बातें किससे कर रही थीं ?"

"अपने से"

"अच्छा ! अब तुम स्वयं से भी बातें करने लगी हो । अब तो तुम दार्शनिक बनती जा रही हो ।"

"क्यों, इसमें दार्शनिकता की क्या बात है ? तत्त्वचिंतन पर क्या दार्शनिकों का ही एकाधिकार है ?"

"ऐसी तो कोई बात नहीं, पर तुम कुछ गा भी तो रही थीं। कुछ गुनगुना रहीं थी न ।"

"हाँ गुनगुना रही थी, गा भी रही थी ।"

"यह तो मुझे भी पता है ! मैं तो यह पूछ रहा हूँ रानी साहिबा! कि क्या गा रही थीं – क्या गुनगुना रही थीं ?"

"जी, राजा साहब ! वही जो आपने बताया था, समझाया था, दिखाया था कि निमित्त होता है, पर करता नहीं; करता नहीं, पर होता है । राग होता है, पर उपादेय नहीं; उपादेय नहीं, पर होता है ।"

"अच्छा यह बात है, तो अब यह तुम्हारे गीत हो गए हैं, संगीत हो गए हैं।"

"गीत और संगीत ही क्यों, नृत्य भी कहो न ?"

"नृत्य कैसे कहूँ, तुम नाच तो नहीं रही थीं।"

"न सही शरीर, पर मन-मयूर तो नाच ही रहा था ।"

"तुम तो कवि भी होती जा रही हो ।"

"जब मन मुदित होता है; तब गीत, संगीत, नृत्य और काव्य सभी फूट पड़ते हैं ।"

"बात तो ऐसी ही है - तभी तो आत्मज्ञानी मुनिराजों का चित्रण करते हुए लिखा गया है -

हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों ।
तब शांत निराकुल मानस तुम, तत्त्वों का चिन्तन करते हो ॥
करते तप शैल नदी तट पर, तरुतल वर्षा की झड़ियों में ।
समतारस पान किया करते, सुख-दुःख दोनों की घड़ियों में ॥
अन्तरज्वाला हरती वाणी, मानो झड़ती हों फुलझड़ियाँ ।
भवबंधन तड़-तड़ टूट पड़ें, खिल जावें अन्तर की कलियाँ ॥"

"यह तो साधुओं की बात है।"

"हाँ ! यह बात साधुओं की ही है, पर ज्ञानी गृहस्थों और साधुओं में इतना ही अन्तर पड़ता है कि मुनिराज उग्र पुरुषार्थी होते हैं; अतः वे वन में वास करते हैं और गृहस्थ घर में रहता है, पर तत्त्वचिन्तन तो गृहस्थ भी वैसा ही करता है, जैसा कि मुनिराज । हाँ, यह बात अवश्य है कि गृहस्थों के वह गहराई कहाँ, जो मुनिराजों के चिन्तन में पाई जाती है।"

"यह तो ठीक, पर हमारा नम्बर अभी आत्मज्ञानियों में भी कहाँ आता है ?"

"क्या आत्मज्ञान में भी नम्बर लगते हैं?"

"मेरा तो यह कहना है कि हम तो अभी तत्त्वाभ्यास कर रहे हैं ।"

"यही समझ लो जब तत्त्वाभ्यासियों की यह दशा हो जाती है तो तत्त्वज्ञानियों की क्या होती होगी? वीतरागी मुनिराजों का तो कहना ही क्या ?"

"बात तो आप ठीक ही कहते हैं ।"

"बस बात ही ठीक करता हूँ और सब ··· ।"

"और सब भी ठीक ही करते हैं ।"

"फिर तुमने बात तो ठीक करते हैं। - ऐसा क्यों कहा?"

"आप जैसे तार्किकों से तो बात करना ही मुश्किल है, न मालूम कहाँ से कैसा अर्थ निकाल लेते हैं ?"

"तो मत किया करो मुझ से बात ।"

"क्यों नहीं करूँ, मैं तो खूब करूँगी ?"

"कैसे करोगी ?"

"खूब करूँगी, आप कौन होते हैं रोकने वाले ?"

"अच्छा ! हम कौन होते हैं ?"

"हाँ-हाँ, कौन होते हैं ?"

"तो हम कोई नहीं हैं तुम्हारे ? तो ठीक है, हम तो व्यर्थ ही बंधन में पड़े थे, आपको अपना माने बैठे थे। हमारी तो समझ में आज आया है, हम आपके कोई नहीं हैं, आप भी हमारी कोई नहीं हैं।"

"आपको न मालूम क्या हो गया है ? यों ही बहकी-बहकी बातें करने लगे।"

"मैं बहकी-बहकी बात कर रहा हूँ, ठीक ही तो है - इस असार संसार में कौन किसका है ? जब कोई किसी का नहीं, तब मैं तुम्हारा कैसे हो सकता हूँ और यह तुम्हीं ने तो कहा है।"

"मैंने यह कब कहा कि आप मेरे कौन होते हैं? मैंने तो यह कहा था कि मैं आपसें बात क्यों नहीं करूँ? आप बात करने से रोकने वाले कौन होते हैं?"

रुआँसी-सी रूपमती बोले जा रही थी - "आपसे बात नहीं करूँगी तो किससे करूँगी ? और कौन है मेरा यहाँ जिससे बात करने जाऊंगी ? तुम्हें तो लड़ास छूटती है तो बिना ही कारण लड़ने लगते हो। तुम्हें तो क्या, हमें रुलाकर अभी आराम से सो जाओगे और फिर हम रात भर रोते रहेंगे।"

– कहते-कहते लगभग रूपमती रोने ही लगी।

मजाक-मजाक में ही वातावरण कुछ बोझिल-सा हो गया था। उसे ठीक करने के लिए मुस्कराते हुए विवेक बोला – "अपने से ही बातें कर लिया करें। अब तो तुम अपने से भी बातें करना सीख गई हो।"

"रहने भी दो ···"

"क्या रहने दें ?"

"कुछ नहीं"

बात ही बात में बिगड़ता वातावरण फिर बनने लगा ।

"कुछ नहीं कैसे ? तुम्हीं तो कह रही थीं कि निमित्त कुछ करता नहीं, पर जरा-सी बात का निमित्त पाकर तुम रो क्यों पड़ीं ?"

"अच्छा तुम मेरी परीक्षा ले रहे थे ?"

"किस बात की परीक्षा ?"

"यही कि आपका पढ़ाया निमित्त का सिद्धान्त मेरी समझ में आया या नहीं ?"

"यही समझ लो"

"तो बताओ, मैं पास हुई या नहीं ?"

"फर्स्ट क्लास फर्स्ट"

"झूठी चापलूसी मत करो।"

"क्यों ?"

"फेल को फर्स्ट क्लास फर्स्ट बता रहे हो ?"

"क्यों, फेल क्यों ?"

"जरा से निमित्त की प्रतिकूलता में मैं रो जो पड़ी ।"

"इससे क्या है ? **यह तो पर्याय का सत्य है। श्रद्धा में ऐसी पक्की श्रद्धा होने पर भी कि हँसना-रोना सब राग-द्वेष के खेल हैं; अतः ये उपादेय नहीं, ज्ञानी के भी रोना-हँसना होते ही हैं और बाहर में तदनुकूल निमित्त भी होता ही है । उसे कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता।**"

"अच्छा तो प्रश्नपत्र दोनों ही सिद्धान्तों का था। निमित्त होता है, पर करता नहीं; तथा राग-द्वेष (हँसना-रोना) होता है, पर उपादेय नहीं।"

"हाँ, और तुम दोनों में पास हो गईं।"

"कैसे ?"

"ऐसे कि तुम यह जानते हुए कि मैंने तुम्हें कोई छोड़ नहीं दिया है, फिर भी तुम रो पड़ीं। इससे सिद्ध होता है कि कभी-कभी रोना-हँसना श्रद्धा के विपरीत भी हुआ करते हैं।"

"ऐसी बात है ?"

"हाँ, इसी कारण तो यह कहा जाता है कि **संयोग के अनुसार राग का निर्णय नहीं होता तथा राग के अनुसार श्रद्धा का निर्णय नहीं किया जा सकता।**"

"चलो रोना आया सो आया, पर पास तो हो गई। आपने पास तो कर दिया।"

"आँसुओं के बल पर पास होने से काम नहीं चलता और दूसरों के पास करने से क्या कोई पास होता है ? जब तुम स्वयं अपने को पास करोगी, तब पास होओगी।"

"मैं अपने को जब करूँगी, तब करूँगी, आपने तो कर दिया।"

"मैंने तो उसी दिन कर दिया था, जिस दिन सगाई हुई थी।"

"ऐं ! पांच बज गए ?"

"पाँच ··· "

कहते हुए दोनों अपने दैनिक कार्य में लग गए।

२७

जब भी क्रान्ति की लहर उठती है तो उसका सहज प्रतिरोध होता है। ज्यों-ज्यों उसका प्रतिरोध होता है, त्यों-त्यों उसमें और भी तेजी आती जाती है तथा एक समय ऐसा आता है कि वह तूफान का रूप धारण कर लेती है।

जब तूफान तेजी पकड़ता है तो जिनकी छाया में दूब भी नहीं पनप पाती, ऐसे विशालकाय वट-वृक्ष भी उखड़ जाते हैं, साधारण पेड़-पौधों की तो बात ही क्या करना ?

एक बार तो सारा वातावरण ही धूल-धूसरित हो जाता है, सब-कुछ अस्त-व्यस्त-सा हो जाता है। पुरानी व्यवस्था टूटने पर नई व्यवस्था जमने में कुछ समय लगता है। इसी बीच कुछ अराजकता-सी हो जाती है।

क्रान्ति में अच्छाइयों के साथ-साथ कुछ अनिवार्य बुराइयाँ भी होती हैं; क्योंकि क्रान्ति की लहर में अच्छे-बुरे सभी शामिल हो जाते हैं। क्रान्ति के तूफान के वेग में बहे बहुत से अनगढ़ लोग भी प्रवक्ता बन जाते हैं, उनमें जोश तो बहुत होता है, पर होश कम। इसकारण अनेक प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

यही स्थिति विवेक द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति की भी हो रही थी। जब क्रान्ति की लहर उठी तो उसका सहज प्रतिरोध हुआ । ज्यों-ज्यों प्रतिरोध हुआ, त्यों-त्यों वह तेजी पकड़ती गई । एक समय ऐसा आया कि उसने तूफान का रूप धारण कर लिया ।

जब आध्यात्मिक तूफान ने तेजी पकड़ी तो उसमें वे बड़े-बड़े मठाधीश उखड़ने लगे, जिन्होंने कि समाज को अपने चंगुल में बुरी तरह जकड़ रखा था, जो बे-ताज के बादशाह बने समाज का शोषण कर रहे थे, समाज को गुमराह कर रहे थे ।

इस आध्यात्मिक क्रान्ति के तूफान में पहिले से ही सड़ी-गली रूढ़िग्रस्त सामाजिक व्यवस्था सारे ही देश में कुछ अस्त-व्यस्त हो गई। नई व्यवस्था जम नहीं पाई और सर्वत्र समाज में एक अराजकता की-सी स्थिति पैदा होने लगी।

विवेक के प्रभावशाली एवं अत्यन्त लोकप्रिय प्रवचनों से प्रभावित हो, कुछ अधकचरे-अनगढ़ लोग भी प्रवक्ता बन गये और वे इस परम-पवित्र आध्यात्मिक क्रान्ति के तल में न जाकर बहुत-कुछ आलोचना-प्रत्यालोचना के चक्कर में उलझने लगे।

उधर ठोकर खाकर मठाधीश भी कुछ सतर्क हुए । परिणामस्वरूप समाज में जगह-जगह द्वन्द्व होने लगे और सर्वत्र समाज के वातावरण में एक प्रकार का विक्षोभ पैदा हो गया ।

जिन तथाकथित पण्डितों और महात्माओं की जमी-जमाई दुकानें उखड़ रही थीं, वे सब मिलकर एक हो गये। अनेक दुकानदारों के समान यद्यपि उनमें भी परस्पर कम स्पर्द्धा (Competition) नहीं थी, वे परस्पर एक दूसरे पर भी कीचड़ उछाला करते थे; तथापि जिसप्रकार संकट आने पर जातिविरोधी जीव-जन्तु भी वैर-विरोध भूलकर एकसाथ हो जाते हैं, बाढ़ आने पर साँप और नेवले को वृक्ष की एक शाखा पर एकसाथ बैठे कहीं भी देखा जा सकता है; उसीप्रकार उन कथाकथित पण्डितों और महात्माओं के सामने भी जन्म-मरण का प्रश्न आ उपस्थित हुआ था। अतः वे भी सब मिलकर संघर्ष करने को तैयार हो गये।

उन लोगों ने एकान्त में मिलकर इस जीवन-मरण के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार-विमर्श किया। यह तो तय ही था कि विवेक द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति का डट कर विरोध करना है, पर विरोध किस बात का करें और कैसे करें ? यह समझ में नहीं आ रहा था।

जब एक दबंग महात्माजी ने कहा कि कुछ भी हो, विरोध तो करना ही है और ऐसा-वैसा नहीं, जोरदार विरोध करना है; तब एक अनेक पदवियों से विभूषित पण्डितराज बोले -

"विरोध तो जोरदार करना है, इससे तो सभी सहमत हैं; पर समस्या तो यह है कि विरोध करें किस बात का ? बातें तो उनकी सभी सही हैं। वे आगम

के अनुसार बोलते हैं, अपनी बात को सयुक्ति और सप्रमाण रखते हैं; फिर भी उनकी बात का विरोध करके क्या आगम का विरोध करना है ? यह तो अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा। ··· "

उनकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि दूसरे महात्माजी गरज उठे –

"कुछ भी हो, एकबार तो आमने-सामने आना ही होगा। भले ही दूसरे की दोनों आँखें फोड़ने के लिए एक अपनी भी क्यों न फोड़नी पड़े?"

"यह तो आत्मघाती कदम होगा ।"

– जब एक भद्र विद्वान ने यह कहा तब दूसरा बोल उठा – "संकटकाल में कभी-कभी ऐसा भी करना होता है ।"

पीछे से आवाज आई – "ऐसा कौनसा संकट आ पड़ा है कि हम ऐसा खतरनाक कदम उठावें।"

"अच्छा तो आपको अभी तक कोई संकट ही नजर नहीं आता। कहाँ सो रहे हैं आप ? जब सब-कुछ स्वाहा हो जायेगा, तब पता चलेगा।"

"क्या पता चलेगा, हमें तो कोई परेशानी नहीं है।"

"आज दूसरों पर आफत आई है तो कल आप पर भी आवेगी । यह क्यों नहीं सोचते ?"

"आयेगी, तब देखा जायेगा।"

"तब क्या देखा जायेगा, जबतक तुम देखोगे, तबतक तो माल पराया हो जायेगा।"

"हो जायेगा तो हो जायेगा। कोई अपना ही सदा काल का ठेका थोड़े ही है और अपने पास माल आता ही कहाँ है ? जिनके पास आता है, वे सोचें । उनके साथ सब क्यों मरें ?"

"भाई ! इसमें मरने की बात ही कहाँ है ? इसमें तो जीवन शान्ति से चलता रहे, जैसाकि अभी तक चलता रहा है – बस इसके लिए ही कुछ इन्तजाम करने की बात चल रही है ।"

"तुम शान्ति से रहो न, तुम्हें कौन रोकता है ?"

"तुम्हें यह पता होता तो फिर ऐसी बातें क्यों करते ? तुम्हें कुछ पता तो है नहीं, व्यर्थ ही बीच में चक-चक किये जा रहे हो ।"

"अच्छा मैं चक-चक करता हूँ और आप ···" — कहते-कहते जब वे आपे से बाहर हो गये तो दूसरे ने उन्हें पकड़ कर किसी प्रकार शान्त किया ।

यद्यपि वे शान्त हो गये थे फिर भी कहते रहे - "आखिर पता तो चले कि कौन से संकट का पहाड़ टूट पड़ा है सब पर, जो··· "

वे अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि एक वजनदार महात्माजी समझाने लगे - "भाई ? तुम्हें पता नहीं; आजकल ये नये-नये छोकरे विदिशा जाते हैं और उस विवेक के बच्चे से न मालूम क्या-क्या सीख आते हैं ? उसका जादू इनके माथे पर ऐसा सवार होता है कि ये किसी को कुछ समझते ही नहीं। न ये लोग हमें नमस्कार करते हैं और न हममें पहिले जैसी श्रद्धा ही रखते हैं।"

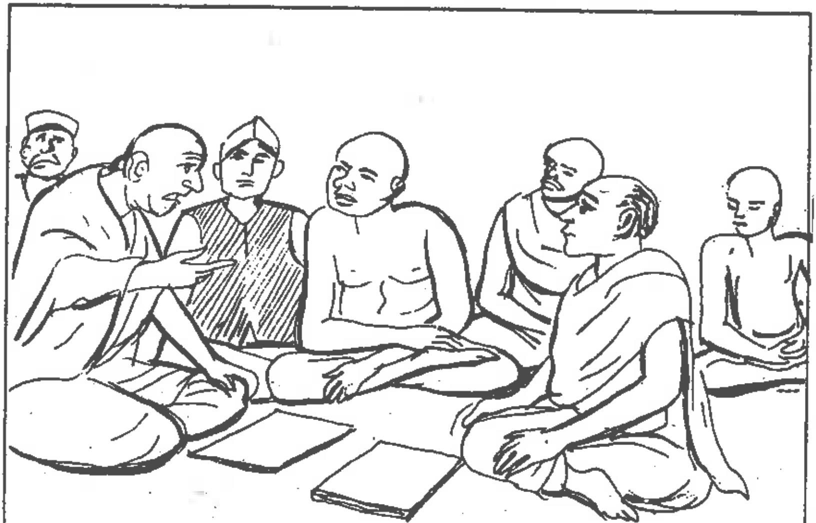

"न रखने दो, दो-चार से क्या होता है ? सैकड़ों तो हैं हमें नमस्कार करने वाले, हममें श्रद्धा रखने वाले । इन दो-चार के न होने से क्या फरक पड़ता है?"

"बात इतनी ही होती तो क्या बात थी, ये लोग अपने ग्राहकों को भड़काते भी तो हैं । यदि इसीप्रकार चलता रहा तो ये दो से चार और फिर चार से आठ होंगे। धीरे-धीरे हमें कोई पूछने वाला भी न मिलेगा, सबकुछ चौपट हो जायेगा।"

"हो गया इन दो-चार छोकरों से; आप भी क्या बात करते हैं ?"

"मैं बात नहीं करता; जो हो रहा है, सो बता रहा हूँ । देखो न जाकर विदिशा में क्या सत्यानाश हो गया है । वहाँ जहाँ हमारे पीछे हजारों लोग चक्कर काटा करते थे, आज कोई नामलेवा पानीदेवा दिखाई नहीं देता । यदि ऐसा ही चलता रहा तो फिर यह डण्ड-कमण्डल छोड़कर हमें भी कोई और धन्धा तलाशना होगा ।"

जब प्राय: सभी ने उक्त बात का समर्थन किया, तब स्थिति की गम्भीरता उनके ख्याल में आई । पर बात यहीं पर आकर रुक गई कि विरोध तो जोरदार करना है, पर विरोध के मुद्दे क्या हों ? कुछ मुद्दे बनाये बिना विरोध कारगर न होगा ।

जब एक ने कहा कि आज की मीटिंग में विरोध के मुद्दे तय हो जाने चाहिए, तब दूसरा बोल उठा - "मुद्दे भी मजबूत होने चाहिए, ऐसे होने चाहिए, जो सबकी समझ में आसानी से आ सकें तथा जिनके आधार पर ना-समझ साधारण जनता सहज उत्तेजित हो सके ।"

"बात तो सही है, इसके बिना विरोध कारगर न होगा ।"

"सो तो बात है ही ।"

यह बात चल ही रही थी कि इस कला में चतुर एक अखाड़ेबाज विद्वान बोल उठे - "यह काम मुझ पर छोड़ दीजिए । मैं ··· "

"किसी पर छोड़कर व्यर्थ में देर करना ठीक नहीं, यदि आपके पास कुछ मुद्दे हैं तो बताइये न ?"

यहाँ-वहाँ देखकर वे बोले - "बताऊँगा, बताऊँगा; पर भरी सभा में यह सब कैसे कहा जा सकता है ?"

"अरे भाई ! यहाँ तो सब अपन ही तो हैं, कोई गैर तो है नहीं ।"

"अपने को पराये होते क्या देर लगती है? उस विवेक का जादू ही कुछ ऐसा है। जबतक उसकी लकड़ी नहीं फिरी, तभी तक सब अपने हैं फिर··· ।"

"आप क्या बातें करते हैं ? आप सबको समझते क्या हैं? एक ईमानदार तो आप ही हैं और सब तो बिकने वाले हैं, यदि कोई बिका भी तो उनमें सबसे पहले आपका नम्बर होगा ।"

"क्या कहा ?"

"मैं ··· , यह तो मेरा सरासर अपमान है ।"

"अपमान तो आपने सबका किया है ।"

जब झगड़ा बढ़ते देखा तो फिर किसी महात्मा को बीच-बचाव करना पड़ा। अंततः उन अखाड़ेबाज विद्वान से सानुरोध उनकी योजना पूछी गई तो उन्होंने अपना भाव कुछ इसप्रकार व्यक्त किया -

"भाई! विवेक की बात पर जाते ही क्यों हो ? वह तो मजा-मजाया विद्वान एवं सदाचारी महापुरुष है। उसके प्रवचनों से प्रभावित जो अधकचरे-अनगढ़ लोग उसके मिशन में शामिल हो गये हैं, उन्हें ही अनाप-शनाप बातें कर उत्तेजित किया जाए। जब वे उत्तेजना में आकर कुछ आधुनिक साधुओं या क्रियाकांड की आलोचना करना आरम्भ कर दें तो फिर उसमें नमक-मिर्च लगाकर अफवाहें फैलाई जावें, उनका जगह-जगह प्रचार किया जावे, तो सहज ही विवेक के विरुद्ध वातावरण बनाया जा सकता है ।"

दूसरा बोला - "बात तो ठीक है । पर यदि वे उत्तेजित न हुए तो?"

"कैसे नहीं होंगे ? आखिर वे अभी अनाड़ी ही तो हैं और जब हम उन पर अनाप-शनाप कीचड़ उछालेंगे, तब उन्हें चुप रहना सम्भव न हो पावेगा।"

"वे बड़े अनुशासनप्रिय होते हैं । अतः यदि उन्हें विवेक ने कह दिया कि कुछ भी हो, पर उत्तेजित नहीं होना है; तो फिर तुम कुछ भी करो, वे भड़केंगे नहीं । तुम्हें पता नहीं, विदिशा में ऐसा ही हुआ था ।"

"हुआ होगा, तुम इसकी चिन्ता न करो। यदि यह योजना सफल न हुई तो मेरे पास और भी उपाय हैं ।"

"वे क्या हैं ? बताइये न ?"

"आप तो आज ही सब समझ लेना चाहते हो, कुछ ··· "

"बात तो स्पष्ट हो ही जानी चाहिए । बार-बार आपसे पूछने थोड़े ही आवेंगे ।"

"अच्छा जानना ही चाहते हो तो लो सुनो – यदि उसके साथी नहीं भी भड़केंगे तो फिर हम लोग ही कुछ अपने साथियों को भेजकर उसके नकली भगत बना देंगे और वे हमारे इशारों पर काम करेंगे । फिर तो सबकुछ ठीक हो जावेगा ।"

"वाह ! क्या दिमाग पाया है आपने ? यदि आप राजनीति में होते तो अब तक प्रधानमंत्री नहीं तो किसी प्रान्त के मुख्यमंत्री तो होते ही ।"

जब एक ने कहा तो दूसरे ने भी दाद दी – "बात तो ऐसी ही है, जब अपने पास ऐसे-ऐसे धुरंधर हैं तो फिर हम अवश्य सफल होंगे; चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं ।"

इसप्रकार एक निष्कर्ष पर पहुँच कर वे सब परम सन्तुष्ट हुए और सभा समाप्त हो गई। ●

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि युवकों में जोश और प्रौढ़ों में होश की प्रधानता होती है । युवकों में जितना जोश होता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है; उतना अनुभव नहीं होता। इसीप्रकार प्रौढ़ों में जितना अनुभव होता है, उतना जोश नहीं।

कोई भी कार्य सही और सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए जोश और होश – दोनों की ही आवश्यकता होती है । अतः देश व समाज को दोनों की ही आवश्यकता है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

– 'जोश एवं होश' नामक निबन्ध से

२८

भीड़ की मनोवृत्ति बड़ी विचित्र होती है। वह तो जहाँ मुड़ गई सो मुड़ गई । सत्य की बात तो बहुत दूर, भीड़ तथ्यों की तह में भी नहीं जाती; यही कारण है कि वह प्रचार का शिकार हो जाती है।

यह युग भी विज्ञापन का युग है। जिस वस्तु का विज्ञापन जोरदार हो गया, वह चल निकलती है; जिसका विज्ञापन नहीं हो पाता, उसे कोई नहीं पूछता। आज वस्तु की अच्छाई की अपेक्षा विज्ञापन का महत्व कहीं अधिक हो गया है। अच्छी वस्तु भी बिना विज्ञापन के नहीं चल पाती; जबकि नकली माल विज्ञापन के बल पर चल निकलता है।

चटपटे विज्ञापन के बिना मधुरतम मिष्टान्न भी जिस भाव नहीं बिक पाता, चटपटे चने बेचनेवाला वाचाल व्यक्ति सामान्य चनों में नमक-मिर्च लगाकर तथा कुछ नमक-मिर्च अपनी वाणी में लगाकर उसी भाव बेच जाता है। उनकी वास्तविक कीमत कोई नहीं देखता, लोग खुशी-खुशी खरीदते हैं और मजे ले-लेकर खाते भी हैं।

एक झूठ को सौ बार दुहरा जाइये, सच-सा लगने लगता है। विज्ञापन के इसी विचार को आदर्श बनाकर विवेक के विरोधी अनाप-शनाप प्रचार करने लगे। जगह-जगह विवेक और विवेक के अनुयायियों के विरुद्ध विषाक्त वातावरण बनाया जाने लगा।

कहा जाने लगा कि इन्होंने शास्त्रों में परिवर्तन कर दिये हैं। ये साधु-महात्माओं के विरोधी हैं। ये भोग से ही मोक्ष मानते हैं । ये हमारे तीर्थ और मन्दिरों पर अधिकार करना चाहते हैं।

'धर्म, धर्मायतन और धर्मात्मा खतरे में हैं' - का नारा दिया जाने लगा । जगह-जगह इनका बहिष्कार करने के आदेश निकलने लगे, उपदेश दिये जाने लगे, बहिष्कार करने की योजनायें भी बनने लगीं ।

सभ्य और सुशिक्षित समाज जागृत था, अतः उन्हें अधिक सफलता तो नहीं मिली; पर उन्होंने समाज के वातावरण में उत्तेजना तो फैला ही दी, वातावरण तो विषाक्त कर ही दिया ।

विरोधियों ने विवेक के साथियों, अनुयायियों, प्रेमियों का नाम विवेकी रख लिया । बिना नाम-धाम के चटपटी चुटकीली भाषा में सुनियोजित प्रचार किया जाने लगा कि विवेकियों ने यह कहा, वह कहा; यह किया, वह किया।

उनके द्वारा संचालित अखबारों में इसप्रकार के संवाद छपने लगे -

"एक बार मैं रेलगाड़ी में यात्रा कर रहा था । वहाँ मुझे स्टेशन की टी-स्टॉल पर चाय पीते एक विवेकी मिला। जब मैंने उससे कहा कि आप होटल की चाय पीते हैं ? तो वह तत्काल बोला कि इसमें क्या है ? यह तो जड़ की क्रिया है। जब उससे साधुओं की साधना की बात कही तो वह विवेकी साधुओं की आलोचना करने लगा, उन्हें भला-बुरा कहने लगा, पाखंडी बताने लगा।"

बिना प्रमाण के ही यह कहा और लिखा जाने लगा कि विवेकी लोग मन्दिरों में झगड़ा करते हैं, अपना साहित्य रख देते हैं, पुराण गायब कर देते हैं।

जब समाज के समझदार लोगों ने इनके प्रमाण चाहे, तो स्वयं इसप्रकार के कार्य कर उनके नाम मढ़ने लगे।

यह चक्र बहुत तेजी से चला। दो-चार जगह उन्हें सफलता मिली; उनके भड़कावे में आकर जहाँ की समाज उत्तेजित हो उठी, वहाँ उन्होंने सत्साहित्य एवं विवेकियों का अपमान भी कर डाला।

वे लोग बड़ी ही चतुराई से काम ले रहे थे। झगड़ा करते स्वयं और नाम मढ़ देते विवेकियों के। मारपीट करते और चिल्लाने लगते कि 'हाय राम मार डाला ।'

यद्यपि सारी समाज विवेकियों की शान्तिप्रियता से परिचित थी, उसे विश्वास भी नहीं हो रहा था कि विवेक के अनुयायी ऐसा कर सकते हैं; तथापि विवेक के अनुयायियों की ओर से कोई प्रतिकार नहीं आ रहा था और उनका प्रचार जोरों पर था। अतः वे भी कुछ-कुछ दिग्भ्रमित होने लगे। साधारणजन तो उनके सुनियोजित प्रचार के शिकार हो ही गये थे।

एक समय तो ऐसी स्थिति बन गई कि लगने लगा कि न मालूम क्या होने वाला है ?

कोई कहता कि इस कलह की आग में सारा समाज ही भस्म हो जाएगा। कोई कहता कि यह आध्यात्मिक क्रान्ति विफल हो जायेगी। कोई कहता कि ऐसा कुछ नहीं होने वाला है। हाँ, यह अवश्य है कि पहले से ही यह देश, यह समाज; अनेक धर्मों, अनेक पंथों में बँटा हुआ है; अब उनमें एक की और वृद्धि हो जायेगी। एक नया धर्म या पंथ और चल निकलेगा। इससे अधिक और कुछ नहीं होने वाला है।

कोई कहता - भाई, यह भारत महान देश है, इसमें सबको पचाने की क्षमता है; इसने मुगलों को पचा लिया, ईसाइयों को पचा लिया। ये धर्म तो बाहर से आये थे, जब भारत ने उन्हें ही आत्मसात् कर लिया तो यह कौनसे खेत की मूली है? यह तो यहीं जन्मा है, कुछ दिनों में सब ठीक हो जायेगा। यहाँ तो सभी क्षेत्रों में बड़े-बड़े क्रान्तिकारी पैदा हुए हैं और सभी काल के गाल में समा गये हैं। चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं है।

यद्यपि विवेक के विरोधी बड़ी चतुराई से काम ले रहे थे। स्वयं झगड़ा करके पता ही नहीं लगने देते थे कि उपद्रव उन्होंने किया है। या तो विवेक के नाम मढ़ दिया जाता या फिर पता ही नहीं चलता कि कौन कर गया है ? तथापि जब उन्हें ऐसा लगा कि उनका उद्देश्य सफल हो रहा है, हो क्या रहा है, हो ही गया है; तब उनमें क्रान्ति को विफल करने की अथवा धर्म की रक्षा करने का श्रेय लेने की तमन्ना जगी।

जिसप्रकार आपातकाल में तोड़-फोड़ करने वाले क्रान्तिकारी छिपे रहते थे, यह नहीं कहते थे कि यह काम हमने किया है; पर जब आपातकाल समाप्त हो गया, चुनाव हुआ और शासन बदल गया तो बड़ी वीरता से यह कहा जाने लगा कि हमने यह किया, वह किया । इसका श्रेय हमें है, उसका श्रेय हमें है।

चोरों का झगड़ा भी चोरी करते समय नहीं, बँटवारे के समय होता है। उसीप्रकार विवेक के विरोधियों को जब ऐसा लगा कि वे सफल हो गये हैं, तो श्रेय लेने के लोभ में स्वयं ही अपने अखबारों में चित्र सहित छापने लगे

कि हमने वहाँ से विवेकियों को निकाला, साहित्य में आग लगाई, उसे पानी में डुबाया आदि।

जब उपद्रवों के अपराधी इकबालिया बयानों के साथ सचित्र समाज के सामने आ गये तो पासा पलटते देर न लगी।

अब वे इस स्थिति में न थे कि यह कहते कि हमने यह सब-कुछ नहीं किया।

जिसे वे अन्तिम जीत समझ रहे थे, वह युद्धविराम निकला। शान्तिप्रिय समाज के सामने उनका असली चेहरा आ गया। अब इनकी स्थिति - गले में अटक गई है हड्डी जिसके - ऐसे बगुले के समान हो रही थी, जिसे न निगला जा सकता था और न उगला ही जा सकता था।

अब वे न तो उक्त दुष्कर्मों से इन्कार ही कर सकते थे और न ही अपराध स्वीकृत करना चाहते थे। चले थे श्रेय लेने, शहीद बनने; पर मिली समाज की दुत्कार, फटकार। पर वे हार मानने वाले कहाँ थे ?

वर्त्तमान स्थिति पर विचार करने एवं भावी कार्यक्रम निश्चित करने के लिए उन्होंने फिर मीटिंग बुलाई । जिन लोगों ने शहीद बनने की धुन में चित्र छापे या छपाये थे, उनकी स्थिति मीटिंग में बड़ी ही दयनीय हो गई थी। उन पर चारों ओर से बौछारें पड़ रही थीं।

कोई कह रहा था - "इन्होंने सब गुड़-गोबर कर दिया । क्या आवश्यकता थी इन्हें चित्र छापने की और डींग हाँकने की कि हमने यह किया, वह किया - जबकि तय किया था कि कार्य करना अपने को है, और नाम मढ़ना विवेकियों के है।"

दूसरा बोला - "फिर ये नेता कैसे बनते, दुनिया इनका नाम कैसे जानती?"

तीसरा कह उठा - "नाम ही करना था तो किसी अच्छे काम में करते? क्या . . . ?"

चौथा बोल उठा - "चलो नाम तो हुआ, चाहे सुनाम हो या बदनाम।"

इस पर उत्तेजित होते हुए शहीदाना अन्दाज में वे बोले - "बदनाम क्यों? क्या मैंने कोई चोरी की है ?"

"नहीं साहब, बहुत बढ़िया काम किया है । दुनिया तो सत्साहित्य लिखती है, छापती है, बाँटती है और आपने उसी को जलाया है, बहाया है । यह कोई चोरी थोड़े ही है, यह तो साहूकारी है, वीरता है ।"

गुस्से में वे बोले - "है ही ।"

तो सभी हँस पड़े । उनमें व्यंग करते हुए एक बोले - "भाई, इनको तो महावीर चक्र मिलना चाहिए । वह भी राष्ट्रपति के हाथ से, २६ जनवरी के दिन, भारत की राजधानी दिल्ली में ।"

यह सुनकर वे एकदम आपे से बाहर हो गये और न जाने जोर-जोर से अनाप-शनाप क्या-क्या बकने लगे ? वे न मालूम क्या कहे जा रहे थे ? होहल्ला में कुछ सुनाई ही नहीं देता था; जो कुछ टूटा-फूटा सुनाई दिया, उसका आशय कुछ इसप्रकार था -

"मेहनत करते हम, काम करते हम और श्रेय लूट ले जाते आप । बाद में क्या प्रमाण रहता कि किसने क्या किया था ? स्वतन्त्रता आन्दोलन में लाखों लोगों ने काम किया, पर इतिहास में दस-पाँच का ही नाम आता है । हम नींव के पत्थर ऐसे ही रह जाते हैं और नाम कमाते ये बड़े-बड़े लोग ।"

जब किसी तरह उन्हें शान्त किया तब एक बोले कि "अच्छा बात यह थी; नाम का सवाल था - भाई ! इसमें क्या नाम होना था ? अच्छा अब हो गया न आपका नाम, अब तो आपका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा ?"

बात फिर न बढ़ जाए - यह सोचकर किसी वजनदार व्यक्ति ने बीच में ही कहा - "भाई ? अब इस व्यर्थ के वाद-विवाद को समाप्त करो न । जो हो गया, सो हो गया; अब वह कदम वापिस तो हो नहीं सकता । उसके प्रतिकार में कोई और उपाय सोचो न, क्यों व्यर्थ में समय खराब कर रहे हो?

अपना कलंक तो अब धुल नहीं सकता; क्योंकि जब सब-कुछ सचित्र अपने ही अखबार में छप गया तो अब मना करने से तो रहे कि हमने यह सब नहीं किया । अब तो एक ही उपाय है कि उन्हें किसी इससे भी बड़े अपराध में बदनाम किया जाए ।"

"इससे बड़ा भी कोई अपराध हो सकता है ?"

"क्यों नहीं ? होने को क्या नहीं हो सकता, करने वाले चाहिए, सब-कुछ हो सकता है ?"

"यही कि यदि हम सत्साहित्य को जलाने, जल में डुबोने के काम में बदनाम हुए हैं तो उन्हें भगवान की मूर्तियों के अपमान करने, पानी में फेंकने के नाम से बदनाम किया जाए । तभी बात बराबरी पर आ पावेगी ।"

"पर जब वे मूर्तियों का अपमान करें, पानी में फेंके; तभी तो उनको बदनाम किया जा सकता है ?"

"यदि अब आप सत्यवादी हरिश्चन्द्र बनना चाहते हैं तो कर लिया विरोध। यदि विरोध करना है तो इससे क्या मतलब कि वे करें, तब हम कुछ कर सकेंगे। वे करें, चाहें न करें, हमको तो अपना प्रचार चालू रखना ही चाहिए ।"

"जब ऐसी घटना कहीं घटित ही नहीं हुई हो तो यह सब कैसे हो पावेगा ?"

"तुम कुछ जानते तो हो नहीं कि आजकल दुनिया कहाँ तक पहुँच गई है ? आज गांव में तालाब या कुआँ खुदता ही नहीं है और योजना पास हो जाती है, पेमेन्ट हो जाता है, पानी खराब निकलने से उसे कागज पर ही पुरवा दिया जाता है और पुरवाने का बिल भी पास हो जाता है।"

"यह तो ठीक, पर मूर्तियों के मामले में ऐसा कैसे होगा?"

"इसमें क्या है ? पहिले हल्ला करो, अमुक मन्दिर से अमुक मूर्ति को कुछ विवेकी चुपचाप उठाकर पानी में डालने ले जा रहे थे, ले क्या जा रहे थे, ले गये थे । पानी में डाल ही रहे थे कि किसी ने देख लिया और डाँटा-फटकारा तो चुपचाप लाकर मन्दिर में रख दी । अब इसमें उनके कहाँ कुछ करने की आवश्यकता है; करना तो सब अपन लोगों को है ।"

"यह तो बहुत बड़ा पाप होगा ?"

"कभी-कभी धर्म की रक्षा के लिए सब-कुछ करना पड़ता है । 'आपत्काले मर्यादा नास्ति – आपत्तिकाल में मर्यादा नहीं होती।' आप यह क्यों नहीं समझते और इसमें कौन-सा बड़ा पाप हो गया ? अपन कर ही क्या रहे हैं, जो पाप होगा ? अपन तो बस बातें ही करेंगे ।"

"हाँ, ठीक ही कहा है भाई साहब ने । बातों के अलावा अपन को करना ही क्या है ? पाप तो तब होता, जब हम उनका नाम लगाने के लिए मूर्तियाँ पानी में फेंक देते ।"

"क्यों ? क्या झूठ बोलना, दूसरों पर झूठा इल्जाम लगाना पाप नहीं है ? झूठ भी तो एक पाप है ।"

"आप तो बहस करते हैं, कह दिया न कि कभी-कभी अपना काम सिद्ध करने के लिए सभी कुछ करना पड़ता है।"

"फिर भी ..."

"फिर भी क्या ? यदि सत्यवादी धर्मराज ही बनना है तो बैठो अपने घर; अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए सत्यवादी धर्मराज ने भी तो एक बार झूठ बोला था । जब द्रोणाचार्य से उन्होंने कहा था कि "अश्वत्थामा हतो गुरुवर कुंजरो वा नरो वा' और फिर हम सब धन्धे-पानी में तो दिन-रात झूठ बोलते ही हैं, एकाध बार इसमें भी सही ।"

उनकी बात सुनकर लगभग सभी एक साथ बोले - "बात तो आप ठीक ही कहते हैं।"

प्रोत्साहन पाकर वे समझाने के लहजे में कहने लगे - "ठीक तो मैंने तब भी कहा था । कितनी बढ़िया योजना थी, पर अखबारों में निकालकर सब-कुछ मटियामेट कर दिया । अब इसप्रकार की कोई गलती नहीं होनी चाहिए, पूरी सावधानी से काम किया जाना चाहिए।"

इस निष्कर्ष पर पहुँचकर मीटिंग समाप्त हुई और एक बार फिर सब प्रसन्नचित्त अपने-अपने घर चले गये।

२९

जब भेड़िये की मौत आती है तो वह नगर की ओर भागता है। जिसका जैसा भविष्य होता है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है, उसका पुरुषार्थ भी उसी ओर ढलता है और उसे सलाहकार व सहायक भी वैसे ही प्राप्त हो जाते हैं। कहा भी है –

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

विवेक के विरोधियों ने भी अपने भवितव्यानुसार यह प्रचार जोरों से आरम्भ कर दिया कि विवेकियों ने मूर्तियों को अमुक स्थान पर पानी में बहा दिया, अमुक स्थान पर मूर्तियाँ खण्डित कर दीं।

जहाँ जैसा मौका देखा, वैसा ही प्रचार-प्रसार आरम्भ कर दिया। कहीं जातिवाद का सहारा लिया तो कहीं पंथवाद का नारा लगाया और कहीं गरीबी-अमीरी का भेद डालकर विग्रह पैदा करने का यत्न किया जाने लगा। साधुओं को यह कहकर भड़काया जाने लगा कि विवेकी साधुओं के विरोधी हैं। ये लोग साधुओं के विरुद्ध जनता को भड़काते हैं, उन्हें आहारादि देने का निषेध करते हैं, उन्हें ढोंगी-पाखण्डी कहते हैं – आदि न जाने क्या-क्या कहा जाने लगा; पर दूध का जला छाछ को भी फूँक-फूँक पर पीता है। इस नीत्यानुसार समाज ने उनका विश्वास नहीं किया; क्योंकि वह एक बार इनकी अप्रामाणिकता को देख चुकी थी।

उनके अथक् प्रयासों के बाद भी यत्र-तत्र छुटपुट घटनाओं को छोड़कर सामाजिक जीवन में कोई उफान नहीं आया, जैसाकि वे समझ रहे थे। वे समझ रहे थे कि हमारे इस दुष्प्रचार से समाज एकदम भड़क उठेगा, जिसमें हमारी सभी गल्तियाँ तिरोहित हो जावेंगी; पर समाज की स्मृति इतनी कमजोर नहीं होती, जितनी कि वे समझ रहे थे।

जब उन्होंने अपने इस दुष्प्रचार का भी समाज पर कोई प्रभाव होते नहीं देखा तो साधुओं और आचार्यों के पास दौड़े गये ।

जब वे एक आचार्यसंघ में पहुँचे तो सबको एक साथ आया देख मुस्कराते हुए आचार्य महाराज बोले – "कहिए आज सभी धुरन्धर एक साथ कैसे पधारे, क्या कोई खास बात है ?"

उनमें से एक बोले – "महाराज ! यह तो आपको पता ही है कि इन विवेकियों ने आजकल बड़ा–ही उपद्रव मचा रखा है, इनके मारे तो नाक में दम आ गया है ।"

"क्यों, वे ऐसा क्या करते हैं, जिससे आप जैसे धुरन्धरों की भी नाक में दम आ गया है ?"

"महाराज, आप यह पूछते हैं कि वे क्या करते हैं ? कोई एक बात हो तो बतावें। वे क्या नहीं करते ? वे वह सब–कुछ करते हैं, जो उनके मन में आता है।"

"अच्छा, करते होंगे; पर तुम्हें उनसे क्या तकलीफ है ? और हो भी तो हम क्या कर सकते हैं ? यह दुनिया तों ऐसी ही है, जिसकी समझ में जो आता है, सो करता है; तुम्हें उससे क्या लेना–देना ?"

"लेना–देना कैसे नहीं है, क्या हम अपनी आँखों के सामने देखते–देखते सब–कुछ यों ही बर्बाद हो जाने दें ?"

"उनके कुछ करने से आपके बर्बाद हो जाने का क्या सम्बन्ध ? यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है । आपकी अब उम्र हो गई है, क्यों प्रपंचों में उलझते हैं? बच्चों को जो समझ में आवे, सो करने दो और आप तो आत्मा का ध्यान करो, हमारे साथ हो जावो; क्यों व्यर्थ ही संसार बढ़ाते हो ?"

सौम्यमुद्राधारी आचार्य महाराज कहे जा रहे थे, पर उन लोगों पर उनके वैराग्यप्रेरक शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था; क्योंकि वे तो अपनी ही उधेड़–बुन में थे । वे महाराजश्री का उपदेश सुनने नहीं आये थे, अपितु अपने वाक्–चातुर्य से उन्हें अपने षड्यन्त्र में शामिल करने आये थे । उनमें से एक वाचाल–से प्रवक्ता बीच में ही बोले – "यह तो सब ठीक है, पर ?"

"पर क्या ?" आचार्य महाराज अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए बोले – "भाई ! यह दुनिया तो ऐसे ही चलेगी; इसकी समस्याएँ तो कभी समाप्त होने

वाली नहीं हैं। एक समस्या सुलझेगी तो दूसरी खड़ी हो जावेगी । इनके ही सुलझाते रहने में यह दुर्लभ मनुष्यभव बर्बाद करने से कोई लाभ नहीं है । हमारी मानो तो हम तो यही कहेंगे कि छोड़ो इन सब प्रपंचों को और संयम धारणकर आत्मसाधना में लग जावो । सुखी होने का एकमात्र उपाय यही है, इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय सुख-शान्ति प्राप्त करने का नहीं है।"

उनकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि दूसरे आगन्तुक बोल उठे -

"महाराज, हम तो शान्ति से रहना चाहते हैं, पर जब कोई शान्ति से रहने दे तब न ।"

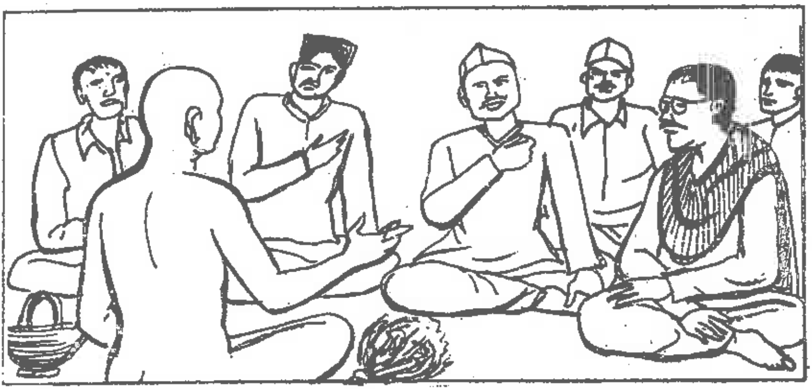

महाराज उसी गम्भीरता से बोले - "**स्वयं शान्त रहने वालों की शांति को भंग कौन कर सकता है ?** कोई हमारी शान्ति भंग करदे, तब जानें ? तुम स्वयं अन्दर से अशान्त हो रहे हो और **स्वयंकृत अशान्ति के दोष को दूसरे के माथे मढ़ना चाहते हो, ऐसी अनीति अध्यात्म में तो संभव है नहीं।**

अन्तर से शान्त रहने वालों की शान्ति को भंग करने की शक्ति तो किसी में है ही नहीं । सारा लोक भी उलट जाए तो भी उसकी शान्ति में भंग नहीं पड़ सकता ।"

महाराज अन्तर्मग्न से होकर कहे जा रहे थे, पर वहाँ उनकी बात पर ध्यान देने वाला कौन था ? सभी एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे । आखिरकार तीसरे ने बोलने की हिम्मत की -

"महाराज, ऐसे में तो आप जैसे सन्त ही शान्त रह सकते हैं, हम जैसों के बस की तो यह बात है नहीं । हम तो ···।"

"नहीं भाई, नहीं; ऐसी बात मत कहो। **सभी आत्माएँ समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं; प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो भगवान है ही, यदि पुरुषार्थ करे तो पर्याय में भी भगवान बन सकता है, पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करे तब ।**

यह प्राणी अन्तर की ओर तो झाँकता नहीं, पर की उधेड़-बुन में ही लगा रहता है । यह अखण्ड अनन्त शक्ति का भंडार ऐसा जो अपना आत्म-स्वरूप, उसकी ओर तो देखता नहीं और इसकी दृष्टि दोषों को देखने में उलझी रहती है । दोष भी यह अपने नहीं देखता, दूसरों के देखता है; इसलिए अनन्तदुखी और अशान्त बना रहता है।

भाई! **अपने सुख-दुःख के कारण अपने में हैं, दूसरों में नहीं, उन्हें अपने में खोजो, दूसरों में नहीं । अनादि से यह आत्मा अपनी भूलों से ही दुःखी है और स्वयं अपनी भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है । पर जब तक यह अपने दुःख का कारण पर में खोजता रहेगा, तबतक सुखी होना तो दूर, सुख का मार्ग भी प्राप्त नहीं कर सकेगा ।**

भूल भी कोई बहुत बड़ी नहीं है । मात्र इतनी ही है कि इसने आज तक अपने को देखा नहीं, जाना नहीं, पहिचाना नहीं, अनुभव किया नहीं; उसमें जमा नहीं, रमा नहीं; यदि यह इस भूल को सुधार ले, **अपने को जाने - पहिचाने, अपने में ही जम जाए, रम जाए, समा जाए, तल्लीन हो जावे तो भगवान बन जाए; पर ऐसा करे तब न ।**"

महाराज तो अपने रस में मग्न थे, कहे जा रहे थे; पर समागत डेपुटेशन का धैर्य समाप्त हो रहा था । उसे महाराज की अध्यात्मरस से सराबोर अमृतवाणी से कोई सरोकार नहीं था । वे सभी लोग तो काम वाले थे न, उन्हें महाराज की इन ऊल-जलूल बातें सुनने को समय भी कहाँ था ? वे ऐसा जानते तो महाराज के पास आते भी नहीं । वैसे भी वे कहाँ आते हैं ? आज तो उन्हें जरूरी काम आ पड़ा था । इसलिए आना पड़ा । उन्हें महाराज से विवेकियों के विरुद्ध आदेश जो निकलवाना था । पर यहाँ तो बात ही ठिकाने पर नहीं आ पा रही थी। महाराज तो कहाँ की आतमा फातमा की बातें ले बैठे हैं ।

महाराज को और काम ही क्या है, पर ये लोग तो काम वाले आदमी हैं। उन्हें ये बातें सुनने को कहाँ समय है ? उन्हें घर संभालना है, समाज को संभालना है । वे महाराज जैसे फालतू थोड़े ही हैं, पर क्या करें आज तो फँस ही गये थे; अतः सब-कुछ सुनना पड़ रहा था ।

महाराज की उन्होंने बहुत-कुछ सुनली थी, पर अब उनका धैर्य समाप्त हो रहा था । अन्ततः हिम्मत बटोर कर उनमें से एक बोले -

"महाराज, भगवान बनने का रास्ता तो यही है, जो आप बता रहे हैं; पर अभी तो हम भगवान बनने नहीं आये हैं । अभी तो हमारी बात भी सुन लीजिए थोड़ी-बहुत । आप तो अपनी ही कहे जा रहे हैं।"

उनकी वाणी की कड़वाहट का स्पष्ट अनुभव करते हुए महाराज बोले -

"अच्छा भाई ! तुम अपनी कहो। अब हम तुम्हारी सुनेंगे। लगता है हमारी बात का तुम्हें कुछ बुरा लग गया है। पर **हम साधुओं के पास अध्यात्म की बात के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है ?** अच्छा भाई बोलो, क्या कहना चाहते हो ?"

सभी एक साथ बोले - "यही कि आप विवेकियों के बहिष्कार का एक आदेश निकाल दीजिए।"

"क्या कहा, आदेश और बहिष्कार का ?"

"हाँ ! हाँ !! साहब बहिष्कार का आदेश ही चाहते हैं हम लोग, जिससे उनकी अकल ठिकाने लाई जा सके।"

"तुम्हारी अकल तो ठिकाने है ? **साधु भी कहीं आदेश निकालते हैं, वे तो परहित की भावना से मात्र उपदेश ही देते हैं, वह भी उनका मुख्य कार्य नहीं है, मुख्य कार्य तो ध्यान और अध्ययन है।**

जब साधु आदेश ही नहीं देते हैं तो फिर बहिष्कार के आदेश का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है ?"

"नहीं महाराज, शास्त्रों में लिखा है कि आचार्य आदेश देते हैं।"

"हमें पता है, पर संघ में स्थित साधुओं को देते हैं, श्रावकों को नहीं; क्योंकि वे तो उनके अनुशासन में हैं। श्रावकों ने उनकी बात मानी या नहीं मानी तो ···।"

"मानेंगे कैसे नहीं, उन्हें माननी पड़ेगी।"

"कैसे माननी पड़ेगी ?"

"नहीं मानेंगे तो हम बलात् मनवायेंगे, आप आदेश तो निकालिए।"

"हम क्या आदेश निकालें और तुम क्या मनवाओगे ? जब तुमने ही नहीं मानी।"

"क्या नहीं मानी ?"

"यही कि मैं तुम्हें आत्महित में लगने की प्रेरणा दे रहा था तो तुमने मानना तो बहुत दूर, ध्यान से सुना भी नहीं, अरुचि प्रदर्शित की, आक्रोश व्यक्त किया। जब उपदेश ही कोई नहीं सुनता तो आदेश की कौन सुनेगा ? यह दुनिया तो ऐसी ही है - सब ऐसे ही चलता रहेगा।"

"तो आप आदेश पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे ?"

"कैसा आदेश, काहे के हस्ताक्षर, हमारा तो सबको यही उपदेश है, यही आदेश है कि सब शान्ति से रहें, सुखी रहें, अपने-अपने हित में लगें।"

"चलो भाई, चलो, मिल गया आदेश" - कहते हुए वे लोग वहाँ से चल दिये।

●

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे, जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते, तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे ?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १११

३०

जब हमारी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु खो जाती है और सहज खोजने पर भी प्राप्त नहीं होती है तो हम उसे वहाँ भी खोजने लगते हैं, जहाँ कि उसके होने की सम्भावना भी नहीं होती है ।इसलिए तो कहा जाता है कि 'खोई हुई थाली को लोग गागर में भी खोजते हैं ।'

खोई वस्तु के तीव्र राग में हमारा सहज विवेक भी लुप्त हो जाता है। यह दशा सामान्यजन की ही नहीं होती, कभी-कभी तो बड़े-बड़े बुद्धिमान भी इसप्रकार का कार्य करते देखे जाते हैं । सीता के वियोग में श्रीराम की भी तो ऐसी ही स्थिति हो गई थी। वे भी वनचारी पशुओं-पक्षियों - यहाँ तक कि वृक्षों और लताओं से भी सीता के बारे में पूछने लगते थे । कहा भी है-

हे खग-मृग हे मधुकर श्रेणी, तुम देखी सीता मृग-नैनी ।

जो जिसे अपना सर्वस्व मान लेता है, उसके वियोग में उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है।

विवेक द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति से जिनकी आजीविका और प्रतिष्ठा खतरे में पड़ गई थी, अनेक उपाय करने के बाद भी सफलता न मिलने पर उनकी भी यही स्थिति हो गई थी । वे भी अब 'मरता क्या न करता' की स्थिति में पहुँच चुके थे ।

यही कारण था कि वे लोग उन वीतरागी साधुओं और आचार्यों की शरण में इस दुराशा से पहुँचे कि वे उनके विरोधियों (विवेकियों) का बहिष्कार उनके कहने मात्र से कर देंगे ।उन्होंने यह नहीं सोचा कि जिनका आदर्श शत्रु-मित्र में समता का भाव हो, वे ऐसा दुष्कर्म कैसे कर सकते हैं ? जिनके बारे में यह कहा जाता है कि -

अरि-मित्र महल-मसान कंचन-काच निंदन-थुतिकरन ।
अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरन ।

वे सन्त समाज को तोड़ने के आत्मघाती कदम का समर्थन कैसे कर सकते हैं ?

यह सब सोचना तो जागृत विवेक का काम है। जिनका विवेक ही कुण्ठित हो गया हो, जो विवेक के विरोधी हो गए हों; उनसे इस दुष्प्रयास के अतिरिक्त और आशा भी क्या की जा सकती थी ?

एक संघ से निराश होकर वे दूसरे संघ में पहुँचे। दूसरे संघ में पहुँचकर उन्होंने सुनियोजित रूप से कुछ इसप्रकार बात करना आरंभ किया, जिससे ऐसा प्रतीत हो कि वे उस संघ से विवेकियों के बहिष्कार का आदेश प्राप्त कर लाये हैं। स्पष्ट रूप से कहने में तो बात खुल जाने का डर था; अतः उन्होंने चतुराई से काम लेना ही उचित समझा।

पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार उनमें से एक बोले – "महाराज हम उन आचार्य महाराज के पास गए थे। उन्होंने हमारी बात बड़े ध्यान से सुनी। हमें प्रोत्साहित भी किया। कहा कि आप लोगों के प्रयासों से ही धर्म टिका है । उनकी महानता से हम लोग बहुत प्रभावित हुए हैं।"

"अच्छा तो आप लोग अभी वहाँ से ही आ रहे हैं?"

"हाँ-हाँ, महाराज । उन्होंने आपको नमोस्तु कहलाया है। वे आपकी बहुत-बहुत प्रशंसा कर रहे थे। कह ···।"

"ठीक है, ठीक है; तो आप सब, सब संघों की वंदना करने निकले हैं ?"

"हाँ-हाँ, महाराज बात तो यही है ।"

"क्यों, ऐसी क्या आफत आ पड़ी है ?"

"आफत ! आफत की तो कोई बात नहीं है, बस ऐसे ही चल निकले। बहुत दिनों से आप लोगों के दर्शन नहीं किये थे; सो सोचा, चलो दर्शन ही कर आवें ।"

"अच्छा, तो ठीक है ।"

जब उन्होंने देखा कि बात तो कुछ कर ही नहीं पाये तो उन्होंने उसी बात को दुबारा उठाते हुए कहा – "महाराज, हमने उन आचार्य महाराज को बताया

कि विवेक और उसके अनुयायी साधुओं का विरोध करते हैं, उन्हें आहार देने को पाप बताते हैं ।

हमने उनसे प्रार्थना भी की कि आपकी ओर से हम विवेकियों को यह कहकर समझाना चाहते हैं कि वे साधुओं का विरोध करना बन्द कर दें, अन्यथा उनका बहिष्कार कर दिया जाएगा । हमें आशा है आपका नाम लेने से वे समझ जावेंगे और समाज में शान्ति हो जावेगी । समाज में शांति की स्थापना हो जावे, इसके लिए हम आपसे भी ऐसी ही अनुमति चाहते हैं ।''

उनकी बात सुनकर आचार्य महाराज एकदम गम्भीर हो गए, विचार में पड़ गये। कुछ देर बाद चिन्तित से बोले - ''तो क्या उन्होंने अनुमति दे दी?''

''अनुमति की क्या बात है ? उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि हम तो यही चाहते हैं कि समाज में शांति बनी रहे । सभी अपनी-अपनी निर्विघ्न धर्म-साधना करें । हमारा आप सभी को यही उपदेश है, यही आदेश है।''

महाराज फिर कुछ देर तक चुप रहे । अन्त में बोले - ''मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता, आखिर वे ऐसा कहते क्या हैं? जरा हम भी तो सुनें ।''

''अब आपके सामने क्या कहें, हमें तो कहने में भी संकोच होता है । जैसी बातें वे करते हैं, उन्हें तो हम अपनी जबान पर भी नहीं ला सकते । बस यही समझ लीजिए कि साधुओं कि निन्दा करते हैं, धर्म को ढोंग बताते हैं। हमसे तो आपकी निन्दा सुनी नहीं जाती।''

''तुमसे नहीं सुनी जाती तो कोई बात नहीं । हमें सुनाओ, हम सुनेंगे। जो बात कोई नहीं सुन सकता, वह साधु सुन सकता है; जो कोई नहीं सह सकता, वह साधु सह सकता है । कहा भी है न -

खोद-खाद धरती सहे, काट-कूट वनराय ।
कुटिल वचन साधू सहें, और से सहा न जाय ॥

कहो, तुम तो निःसंकोच कहो। डरते क्यों हो? कोई तुम अपनी तरफ से थोड़े ही कर रहे हो ? भाई ! तुम तो मात्र वह सुना रहे हो जो वे लोग कहा करते हैं; बोलो-बोलो, हम जानना चाहते हैं।''

महाराज की स्नेहभरी बात सुनकर वे उत्साहित हो उठे। उन्हें विश्वास हो उठा था कि शायद अब अपना काम बन जाए। अतः उनमें से एक कहने लगे -

"जब आप जानना ही चाहते हैं तो थोड़ा-बहुत बताते हैं महाराज । कहते हैं - आत्मा समझे बिना सारा क्रिया-कांड बेकार है, अंक के बिना शून्य के समान शून्य है । आत्मा और परमात्मा की पहचान बिना किया जाने वाला पूजा-पाठ धर्म नहीं, ढोंग है। **जो साधु आत्मध्यान और अध्ययन-मनन-चिन्तन को छोड़कर जगत प्रपंचों में उलझे रहते हैं; वे साधु नहीं, पाखण्डी हैं ।**

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता । प्रत्येक द्रव्य का परिणमन एकदम स्वाधीन है, कोई किसी के आधीन नहीं । अपने सुख-दु:ख के कर्त्ता सब जीव स्वयं हैं, कोई किसी का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं ।

भगवान भी जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं । वह किसी को कुछ देता-लेता भी नहीं । विषयों की आशा के भगवान की भक्ति करने वाला भगवान का भक्त नहीं, भोगों का भिखारी है, भिखारी।

इसप्रकार न जाने क्या-क्या उल-जलूल बकते रहते हैं, अपनी तो कुछ समझ में नहीं आता ?"

उनकी बातें सुनकर आश्चर्यचकित महाराज बोले -

"जब आपकी समझ में कुछ नहीं आता तो फिर विरोध किस बात का ? भाई इसमें क्या है ? ये जो बातें तुमने बताई हैं, वे सब सही ही तो हैं । शास्त्रों में भी जगह-जगह यही सब लिखा है । मेरे सामने भी शास्त्र रखोगे तो मैं भी यही सब कहूँगा, और कह भी क्या सकता हूँ ?"

"आपकी बात और है, आप कहेंगे तो हम सब सुन लेंगे, पर ···।"

"हमारी बात और क्यों हैं ?"

"महाराज ! कहाँ आप और कहाँ ये कल के छोकरे, बीस दिन के पण्डित, हमारे कान काटने को फिरते हैं, हमें ढोंगी कहते हैं, पाखण्डी कहते हैं; हमारे गुरुओं को भी जो मन में आये कहते हैं। यह सब हम कैसे सुन सकते हैं, कैसे देखते रह सकते हैं ? हममें कोई गलती है तो आप कहिए, हम सब सुनने को तैयार हैं, हमारा कान पकड़िये, पर ये नादान ···।"

"भाई इसमें नादानी की क्या बात है ? ये सब तो शास्त्र की बातें हैं, इनका विरोध करके क्या शास्त्रों का विरोध करना है ?"

"नहीं महाराज, हमें शास्त्रों का नहीं, इनका विरोध करना है और डटकर करना है; इसमें हमें आपका आशीर्वाद चाहिए ।"

"क्यों ?"

"क्यों क्या ? बस यों ही ।"

"यों ही, तो हम तुम्हारी कषायपूर्त्ति में शामिल नहीं हो सकते ।"

महाराज का कड़ा रुख देखकर वे हताश-से हो गए, पर तत्काल संभलते हुए नम्रता से बोले - "महाराज आप तो नाराज हो गए। इसमें हमारी कषायपूर्ति की कोई बात नहीं है, अपितु धर्म-रक्षा की बात है । हम आपको अधिक क्या बतावें ? ये लोग तो आप तक को नमस्कार नहीं करते ।"

"नहीं करते तो मत करने दो, इनके नमस्कार कर लेने से हमें कोई मोक्ष नहीं मिल जायेगा और नहीं करने से हमारा मोक्ष रुक नहीं जावेगा। हम उनसे नमस्कार कराने के लिए साधु थोड़े ही हुए हैं । हम तो अपने आत्म-कल्याण के लिए गृह-त्यागी बने हैं, हमें अब फिर इन प्रपंचों में न उलझाओ।"

बात को बिगड़ती देखकर दूसरे साथी बीच में ही टोककर बात साधने की चेष्टा करते हुए कहने लगे -

"इनकी बातों को जाने दीजिये महाराज, ये तो कुछ समझते नहीं। नमस्कार करने या न करने से आपको क्या प्रयोजन? आप तो वीतरागी सन्त हैं, आपको किसी से क्या लेना-देना? पर बात यह है कि कुछ दिनों तक ऐसे ही सब-कुछ चलता रहा तो एक दिन ऐसी स्थिती आ जावेगी कि आपको कोई आहार-पानी देने वाला भी न मिलेगा।"

"न मिले तो न सही, हम रोटियों के लिए साधु नहीं बने हैं, आप हमारी चिन्ता छोड़ो, अपना काम करो । हमें रोटियों का लोभ दिखाते हो, रोटियाँ नहीं मिलने का भय बताते हो ?"

जब उन्होंने देखा कि बात अब बहुत बिगड़ गई है, सुधरने वाली नहीं दीखती, तो अन्तिम दाव फेंकते हुए तीसरे बोले -

"लगता है महाराज, आप भी विवेकियों के चक्कर में आ गए हैं। यदि ऐसा है तो आपको भी समाज के विरोध का सामना करना पड़ेगा। समाज यह अब अधिक बरदाश्त करने वाली नहीं है। कुछ भी कदम उठाने के पहले आप इस बात को सोच लेना। कहीं आपको भी समाज के बहिष्कार का सामना न करना पड़े।"

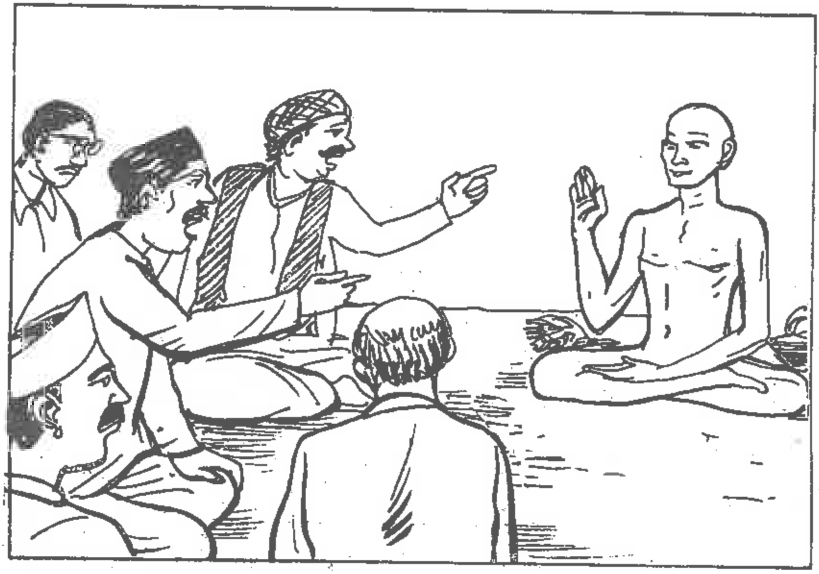

महाराज उनकी बात और अधिक न सुन सके और उठकर वहाँ से चल दिए। वे सब लोग भी हारे हुए योद्धाओं के समान हताश होकर विषण्यमुख हो एक-दूसरे का मुख देखने लगे और उठकर चल दिए।

चलते-चलते एक बोले -

"आज का दिन ही खोटा था, न मालूम किस मूहूर्त्त में घर से निकले थे ? न मालूम आज सुबह-सुबह किस मनहूस का मुँह देखा था ?"

बोझिल वातावरण को हल्का करने के मूड में दूसरा बोल उठा -

"याद करो, उठते ही कही दर्पण तो नहीं देख लिया था।"

उसकी बात सुनकर उस विषाद के वातावरण में भी एक बार सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

३१

सफलता संगठन और असफलता विघटन की जननी है। जब किसी काम में एक के बाद एक सफलताएँ मिलती चली जाती हैं तो हमारा उत्साह बढ़ जाता है और अनेक लोग हमारे साथ हो जाते हैं; कार्यकर्त्ताओं का मनोबल बढ़ता है, उनमें एक नई उमंग जागृत हो जाती है । नए-नए लोगों के शामिल होते जाने से जहाँ संगठन विशाल रूप धारण करने लगता है, वही उसमें दृढ़ता का विकास भी होता है; किन्तु जब किसी संगठन को असफलता का सामना करना पड़ता है तो उसमें दरारें पड़ने लगती हैं। उसके सदस्य एक-दूसरे से कतराने लगते हैं, परस्पर एक-दूसरे की आलोचनाएँ ही नहीं करते, वरन् असफलता का दोष भी एक-दूसरे के सिर मढ़ने लगते हैं। यह आरोप-प्रत्यारोप का सिलसिला यहाँ तक चलता है कि स्थिति कभी-कभी विघटन के कगार तक भी पहुँच जाती है।

१९६७ की असफलता के कारण १९६९ में सुगठित संस्था कांग्रेस का विघटन हो जाना इस बात का सर्वविदित उदाहरण है। कांग्रेस के १९७८-७९ के विघटन भी असफलता के ही परिणाम हैं। जनता पार्टी भी असफलता के कारण ही तो टूटी है।

विवेक के सुसंगठित विरोधी भी जब दो-दो आचार्य संघों से असफल होकर लौटे तो उनमें भी आपस में ही मैं-मैं-तू-तू होने लगी । परस्पर एक-दूसरे को भला-बुरा कहा जाने लगा। आगामी योजना और तद्नुसार कार्यक्रम बनाने के लिए जो मिटिंग बुलाई गई, उसमें प्रारम्भ से ही वातावरण उत्तेजनात्मक हो गया।

जब लोगों को आचार्यों के संघ में हुई चर्चा की जानकारी दी गई तो लोग दो गुटों में बँट गए। जहाँ कुछ लोग यह कहने लगे कि आप इस काम के लिए आचार्यों के पास गये ही क्यों ? वहीं कुछ लोग इस मत के पक्ष में हो

गये कि हमें आचार्यों की बात पर ध्यान देना चाहिए और विवेक का विरोध करना बन्द कर देना चाहिए।

उनमें से एक बोला - "जब हम आचार्यों का मार्गदर्शन प्राप्त करने गये थे तो अब हमें उनके बतायें मार्ग पर भी चलना ही चाहिए।"

उसकी बात को काटते हुए दूसरा बोला - "उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करने गया ही कौन था, हम तो उन्हें मार्गदर्शन देने गये थे।"

"अभी आप ही तो कह रहे थे कि हमने महाराज से कहा कि हम सब आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करने आये हैं।"

"हाँ-हाँ, कहा तो ऐसा ही था।"

"फिर"

"फिर क्या"

"यही कि अब ऐसा क्यों कहते हो कि हम मार्गदर्शन प्राप्त करने नहीं, देने गए थे।"

"यदि तुम कुछ समझते नहीं तो हम क्या करें ?"

"इसमें नहीं समझने की क्या बात है ?"

"यही कि मार्गदर्शन देने के लिए भी कहा तो यही जाता है कि हम आपका मार्गदर्शन चाहते हैं।"

"अच्छा तो यह बात है। हम तो आपकी राजनीति में कुछ समझते नहीं।"

"जब नहीं समझते तो फिर बीच में टाँग क्यों अड़ाते हो ?"

"हम टाँग अड़ाते हैं और आप ...."

इसके आगे वह कुछ कहें कि बीच में ही तीसरा बोल उठा - "छोड़ो न इन बातों को, आप तो यह बताइए कि आपकी बात उन्होंने मानी या नहीं ?"

"मानने, नहीं मानने तक बात पहुँची ही कहाँ ? उन्होंने हमारी बात सुनी ही कहाँ है, वे तो अपना ही राग अलापते रहे, हमें ही उपदेश देते रहे। वे ही घिसी-पिटी आत्मा-परमात्मा की बातें करते रहे।"

"और आप सुनते रहे, यहाँ तो अपनी बात के अलावा आप किसी की सुनते ही नहीं हैं।"

"नहीं सुनते तो क्या करते, भाग आते ? अपनी बात भी तो कहनी थी, सो जबतक वे चुप नहीं हुए तबतक सुननी ही पड़ी।"

पीछे से एक बोला — "थोड़ा हमें भी तो बताइये, क्या कहा महाराज ने?"

"हमें याद थोड़े ही है ?"

"कुछ तो होगा ही ?"

जब उन्होंने कोई उत्तर न दिया तो दूसरे बोले - "महाराज तो इन्हें अपने संघ में शामिल करना चाहते थे। कह रहे थे -क्यों झगड़ों में उलझते हो ? हमारे साथ हो जाओ, साधु बन जाओ।"

"फिर ये बने नहीं ?"

"बन जाते तो फिर अपन अनाथ न हो जाते ? फिर यह सब उखाड़-पछाड़ कौन करता ?"

हँसते हुए तीसरा बोला - "यही करते, और कौन करता ? यहाँ नहीं, तो वहाँ करते ?"

"वहाँ क्या करते ? वहाँ तो माला फेरनी पड़ती, माला।"

"माला भी फेरते और"

"और क्या?"

"और यही कि जिसकी जो आदत होती है, वह जाती थोड़ी ही है। चोरी से जाते तो जाते, पर हेराफेरी से तो जा नहीं सकते थे ?"

वातावरण थोड़ा हल्का हो गया था। उसी को बल देते हुए चौथा बोला - "इन साधुओं को भी अपनी जमात बढ़ाने की पड़ी रहती है । जो जाता है, उसे ही मूँड़ने को फिरते हैं ।"

"न मूँड़े तो लाएँ कहाँ से ? उनके तो कोई बाल-बच्चे होते नहीं।"

"बात तो ठीक है, पर "

"पर क्या ?"

"यही कि उन्हें भी मूँड़ने को यही मिले । वे यह नहीं जानते कि ये तो गुरुओं के गुरु हैं। इन्होंने न मालूम कितनों को मूँड़ा है ? वे इन्हें मूँड़ना चाहते थे ।"

"जबकि ये उन्हें मूँड़ने गए थे।"

"आखिर हुआ क्या ?"

"क्या होना था ? कोई किसी को नहीं मूँड़ सका, बस इतनी-सी बात है ।"

"फिर रोना किस बात का है ?"

"यही कि आज हमारे गुरु को मुँह की खानी पड़ी है।"

जब वातावरण कुछ अधिक ही हल्का होने लगा तो एक गंभीर से व्यक्ति बोले - "क्या यह मीटिंग इसीलिए बुलाई है। यहाँ तो जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है और आप लोगों को मजाक सूझ रहा है ?"

उनकी गर्जना सुनकर एकदम सन्नाटा छा गया। फिर सभी चिन्तामग्न हो गये। उन्होंने उसी गम्भीरता से अपनी बात चालू रखी - "आखिर अन्त में हुआ क्या ? यह बताइये जिससे आगे विचार किया जा सके ?"

जब यह बताया गया कि वे तो आदेश निकालने से साफ इन्कार हो गए तो एक बोले - "फिर आपने कुछ नहीं कहा ?"

"कहा कैसे नहीं ? हम कोई ऐसे ही हार मानने वाले थोड़े ही थे । हमने उन्हें साफ-साफ बता दिया कि फिर आप भी समझ लीजिए कि हम सब कोई मूर्ख थोड़े ही हैं, जो कि आपके पीछे लगे फिरें । आपके लिए आहार का इन्तजाम करें, विहार का इन्तजाम करें और आप हमारी सुनें ही नहीं ।"

"तो आपने कह दिया न सब ?"

"हाँ-हाँ सब कह दिया। यहाँ तक कि कहीं ऐसा न हो महाराज कि आपको भी बहिष्कार का सामना करना पड़े ?"

"तो आपने अन्तिम तीर भी चला दिया ?"

"नहीं चलाते तो क्या करते ? जब कुछ हो ही नहीं रहा था तो"

उनकी इस बात को सुनकर कुछ लोग उत्तेजित हो गए और आचार्यों के अपमान करने के कारण उनसे क्षमा माँगने की माँग करने लगे । कुछ उन्हें शाबासी भी देने लगे । वातावरण में एकदम उत्तेजना फैल गई ।

साधुओं के प्रति वास्तविक श्रद्धा रखने वाले जो लोग वहाँ उपस्थित थे, उनकी आँखें खुल गईं। साधुओं के नाम पर समाज पर शासन करने वालों की साधु-भक्ति की कलई उनके सामने खुल चुकी थी। नीति के नाम पर उन्हें समझाना अब सभंव न रह गया था। सारी मीटिंग स्पष्ट रूप से अनेक गुटों में बँट चुकी थी। अब इस मीटिंग में किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाना संभव न रह गया था। उत्तेजना निरन्तर बढ़ रही थी।

स्थिति की नाजुकता को जानने में चतुर लोगों ने अधिक उत्तेजना से बचने के लिए सभा कि समाप्ति की घोषणा कर दी।

अब लोग अनेक ग्रुपों में विभक्त होकर तरह-तरह की बातें कर रहे थे। कुछ लोग अलग गुट बनाने की सोच रहे थे। कुछ विवेक की मण्डली में शामिल हो जाने की चर्चा करने लगे थे। कुछ आचार्यों के पास जाकर सच्ची स्थिति जानने के इच्छुक दिखाई दे रहे थे। कुछ आचार्यों के मार्ग-दर्शन में चलने को दृढ़प्रतिज्ञ लग रहे थे।

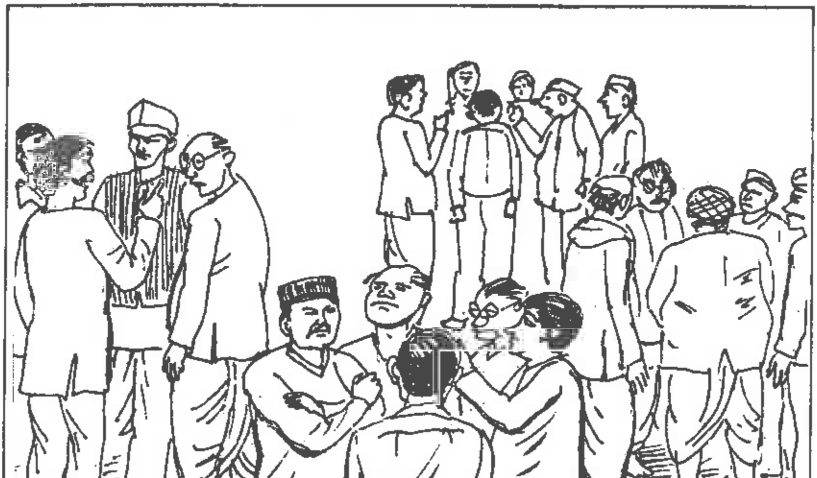

इस सबके बावजूद भी एक बहुत बड़ा भाग अब भी उसी लाइन पर चलने को कटिबद्ध था, जिस पर अभी तक चलता आ रहा था।

जब सब लोग तितर-बितर हो गए और डेपूटेशन के कर्णधारों में से भी कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ही शेष रहे तो उन्होंने गंभीरता से विचार आरंभ किया और अन्त में सर्वसम्मति से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है तो इस नाजुक स्थिति में हमें उन्हीं महात्माजी का मार्गदर्शन फिर से प्राप्त करना चाहिए, जिन्होंने हमें इस मार्ग पर लगाया है । वे ही कुछ मार्ग सुझायेंगे ।

अगले सप्ताह उन्हीं महात्माजी की शरण में पहुँचने का संकल्प कर वे भी अपने-अपने घर की ओर चल दिये । ●

समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है, जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके । यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो; जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पण्डितों और साधुओं का ध्यान ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है । जहाँ देखो, धर्म के नाम पर विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं । – *धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १२८*

३२

जिनकी होनहार ही खोटी होती है, उन्हें असत्कर्म से कोई भी विरत नहीं कर सकता; क्योंकि उनकी बुद्धि भी तो वैसी ही हो जाती है जैसी कि उनकी होनहार होती है। उन्हें सलाह देने वाले भी वैसे ही मिल जाते हैं। मिल क्या जाते हैं; वैसी ही सलाह देने वालों के पास वे स्वयं जाते हैं, यदि कोई सही सलाह देवे भी तो वे उसकी मानना तो बहुत दूर, सुनते भी नहीं हैं।

वस्तुत: बात यह है कि जो कार्य होना होता है, उसके लिए सम्पूर्ण कारण भी वैसे ही सहज मिल जाते हैं। इसप्रकार वह कार्य सम्पन्न हो के ही रहता है।

दो-दो आचार्य संघों से निराश लौटने पर भी विवेक के विरोधियों ने विवेक और उसके साथियों का बहिष्कार करने का संकल्प छोड़ा नहीं था। आचार्यों के समझाने का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, साथियों के विरोध से भी वे विचलित नहीं हुए। यहाँ तक कि कुछ लोग इसी मुद्दे को लेकर उनसे अलग भी हो गए, पर वे लोग तो किसी न किसी प्रकार विवेक का बहिष्कार करने पर ही तुले हुए थे।

अत: वे अपने निश्चयानुसार उन्हीं महात्माजी के पास पहुँचे, जिन्होंने उन्हें आरम्भ से ही इस काम में लगाया था, उकसाया था।

वे महात्माजी भी इन सबको आया देख मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए भी रुखाई से उलाहना देते हुए बोले - "कहाँ भूल पड़े आज?"

"जी, आपके पास ही आए हैं।"

"सो तो दिखाई दे ही रहा है, पर मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि आज ऐसी क्या विपत्ति आ पड़ी है जो हमारे पास आने की जरूरत आ पड़ी ?"

"ऐसी क्या बात है, हम तो आपकी सेवा में हाजिर होते ही रहते हैं।"

"पर अभी तो वर्षों से दिखाई नहीं दिये।"

"जरा काम ...."

"हाँ-हाँ, काम में व्यस्त थे, हमारे पास भी तो तभी आते हो जब कोई काम होता है। बनिया बिना काम के तो एक कदम भी नहीं रखता; यदि रखे तो समझना चाहिए कि वह बनिया नहीं।"

"महाराज, आप तो सब जानते हैं, अब आपसे क्या कहें ?"

"अच्छा तो बोलो कि क्या काम है ?"

"काम, काम तो कुछ भी नहीं बस यों ही"

"सो तो ठीक है, हम सब जानते हैं; अब बोलो भी, संकोच क्यों कर रहे हो ? भाई, हमारा काम भी तो सबकी समस्याओं को सुलझाना ही है । अपना तो जीवन ही दुखियों के दु:खों को दूर करने के लिए समर्पित है ।"

"तभी तो आपके पास सब लोग खिंचे चले आते हैं। सभी की समस्याओं का समाधान करना ही तो सच्चे साधुओं का काम है। जो साधु अपनी ही धुन में मस्त रहते हैं, आत्मा-आत्मा ही रटते रहते हैं; उनसे समाज का क्या भला हो सकता है ? वे तो समाज पर एक बोझ हैं बोझ। समाज तो आप जैसे साधुओं के बल पर ही चल रही है महाराज ।"

"सो तो है ही, पर अब अपनी मतलब की बात पर आओ । हमारे पास अधिक समय नहीं है, बहुत से लोगों को निबटाना है । देखो न, लाइन लग रही है ।"

"आप जैसे दीनबन्धु के पास लाइन न लगेगी तो किसके पास लगेगी।"

"बोलो न, व्यर्थ समय बर्बाद क्यों कर रहे हो ?"

पास में बैठे लोगों की ओर सशंक दृष्टि से देखते हुए उनमें से एक बोला -

"महाराज, कहने को तो आये ही हैं पर ...."

"पर क्या ?"

"यही कि बात एकान्त में हो तो ...."

"अच्छा-अच्छा, यह बात है। चलो, भीतर चलो।"

सभी भीतर चले जाते हैं। जाते-जाते महाराज अपने एक सहयोगी को दरवाजे पर चौकसी के लिए बिठा जाते हैं । कोई भीतर न आने पावे, चर्चा भी सुनने न पावे - इसकी सतर्कता के लिए आदेश भी दे जाते हैं ।

भीतर पहुँचकर महात्माजी कहते हैं - "अब बोलो क्या है ?"

"बात यह है कि विवेक का प्रचार बढ़ता ही जा रहा है, उसके विचारों के प्रसार से समाज का विवेक भी जागृत होता जा रहा है, जिससे अनेक समस्यायें खड़ी हो गई हैं। हमारी कोई सुनता ही नहीं है।"

"तो यह बात है कि समाज में विवेक की जागृति से आपका नेतृत्व खतरे में पड़ गया है।"

"महाराज, आप तो मजाक करते हैं। हमारा नेतृत्व ही नहीं, सब-कुछ चौपट होता जा रहा है। आप यह भी तो सोचो कि जब सारा समाज विवेकी हो जावेगा तो आपको भी कौन पूछेगा ?"

"हमारी चिन्ता छोड़ो; देखो लाइन लग रही है, लाइन ।"

"आप कुछ भी कहो, प्रभावित तो सभी होंगे । अतः कुछ न कुछ उपाय अवश्य करना चाहिए ।"

"आपने क्या सोचा ?"

"आपके सामने हम क्या सोचेंगे ?"

"तो भी .... "

"उनका बहिष्कार होना चाहिए, उन्हें समाज से बाहर कर दिया जाना चाहिए, उन्हें विधर्मी घोषित कर देना चाहिए ।"

"तो फिर कर क्यों नहीं देते ?"

"हमारे करने से क्या होगा, महाराज ? समाज हमारी सुनता ही कब है ?"

"तो किसकी सुनता है, समाज ?"

"आपकी, वेषधारियों की, हमारी सुनता होता तो फिर .... "

"हाँ-हाँ कहो न कि तो फिर हम आपके चक्कर ही क्यों काटते ?"

"नहीं, नहीं; महाराज ऐसी बात नहीं है। आप तो हमारे.............."

"ठीक है, ठीक है, बोलो क्या करना है ?"

"आचार्यों की ओर से विवेकियों के बहिष्कार का आदेश निकलना चाहिए ?"

"उससे तो समाज में फूट पड़ जावेगी ? समाज दो दलों में बँट जावेगा, विघटित हो जावेगा ।"

"हो जायेगा तो हो जायेगा, पर ...."

"बहिष्कार तो उनका होना ही चाहिए, यही न"

सभी एक साथ बोले - "हाँ महाराज"

"इसके लिए अभी तक कुछ प्रयत्न किया आप लोगों ने ?"

"किया तो बहुत कुछ है महाराज, पर हुआ कुछ भी नहीं है ।"

"क्यों ?"

"क्यों, क्या बतावें ? सभी आचार्य बनते तो बहुत बड़े हैं, पर डरते हैं। आप जैसी निर्भीकता सब में कहाँ है ?"

"फिर तुम उन लोगों के पास गये ही क्यों ? हम क्या मर गये थे?"

"यही तो भूल हो गई। हमने सोचा जितने अधिक आचार्यों के हस्ताक्षरों से आदेश निकलेगा, उतना ही प्रभावक रहेगा। बस यही लोभ हमें सता गया।"

"अरे भाई ! तुम जितनों के कहते, उतनों के हस्ताक्षर हो जाते। हमसे तो बात करते, दर-दर की ठोकरें खाते फिरते हो तो हम क्या करें? आदमी को एक का होकर रहना चाहिए, तुम तो सबके बनना चाहते हो। ध्यान रखो, सबसे चक्कर में रहोगे तो एक से भी जाओगे"

"महाराज गलती हो गई। अब कभी नहीं जावेंगे किसी के पास।"

"चलो, कोई बात नहीं, सुबह का भूला यदि शाम को ठिकाने लग जावे तो भूला नहीं कहलाता। अब भविष्य में ध्यान रखना।"

"अब तो आपको छोड़कर कहीं नहीं जाना है।"

"तो लिखो, क्या आदेश लिखना है ? हम कर देते हैं हस्ताक्षर।"

"आप अकेले के हस्ताक्षरों से काम चल जावेगा ?"

"अरे भाई ! कहा न कि सबके हो जावेंगे।"

"आपके कहने से क्या सब कर देंगे ?"

"सबको कहने की आवश्यकता ही क्या है ?"

"फिर सबके हस्ताक्षर ...."

"हाँ-हाँ, कहा न कि सबके हस्ताक्षर हो जावेंगे ।"

"कैसे महाराज ?"

"तुम्हें आम खाने से मतलब या पेड़ गिनने से ?"

"हमें तो आम ही खाना है, पेड़ों से क्या लेना-देना ?"

"तो ठीक है, काम करो ।"

"फिर उनके हस्ताक्षर"

"कर देना तुम्ही लोग, बाएँ हाथ से; क्या रखा है उसमें। इतने परेशान होने की क्या बात है?"

"जाली"

"जाली-वाली क्या होता है ? हमारी समझ में नहीं आता ।"

"धोखा"

"क्या होता है धोखा ? यह सारी दुनिया ही तो धोखा है, धोखे का नाम ही तो दुनिया है, संसार है । माया के अतिरिक्त और संसार है ही क्या ? छोड़ो इन सब बातों को, अपना काम करो ।"

"यदि उन्होंने कह दिया कि हमने हस्ताक्षर नहीं किये तो ?"

"एक तो उन डरपोकों की हिम्मत ही नहीं है कि वे कुछ कहें । हिम्मत होती तो आदेश न निकाल देते ? दूसरे एक-एक नाम के चार-चार हैं, वह समझेगा उनके होंगे, वह समझेगा उन्होंने किए होंगे । ऐसे ही सब निपट जावेगा । यदि कोई एकाध अधिक उछलकूद करेगा तो उसका भी बहिष्कार कर दिया जाएगा, उसकी भी रोटियाँ बन्द कर दी जावेंगी । चिन्ता क्यों करते हो ? सब ठिकाने आ जावेंगे ।"

"उनका अपन कुछ भी क्यों न कर दें, पर अपन तो झूठे साबित हो ही जावेंगे ?"

"कैसे ?"

"ऐसे कि इन्होंने झूठा प्रचार किया है ।"

"अरे हम कहेंगे उन्होंने हस्ताक्षर कर दिए थे, अब विवेकियों के दबाव में बदल रहे हैं। हम झूठे कैसे साबित होंगे; उन्हें ही झूठा साबित न कर दें तो हमारा नाम नहीं। हमने कोई कच्ची गोलियाँ थोड़े ही खेली हैं ।"

"पर उनके हस्ताक्षर"

"उनके हस्ताक्षर की क्या आवश्यकता है ? अपन को तो नाम ही छापने हैं।"

"पर"

"पर यदि किसी ने चैलेन्ज किया तो ।"

"तो क्या, करने दो चलेन्ज ।"

"उन्होंने हस्ताक्षरों का ब्लॉक छापने को कहा तो ?"

"छापना तो हमारे हाथ ही है"

"यदि बात अदालत में पहुँच गई तो ?"

खिलखिलाते हुए महाराज बोले - "रहे मूर्ख के मूर्ख ही । क्या कोई साधु अदालत में जाएगा; और वे जो दिन भर आत्मा-आत्मा रटते रहते हैं । जिन विवेकियों को इतनी गालियाँ दीं, मारा-पीटा, फिर भी जब वे गृहस्थ होकर भी अदालत तक नहीं पहुँचे तो ये क्या जावेंगे ?"

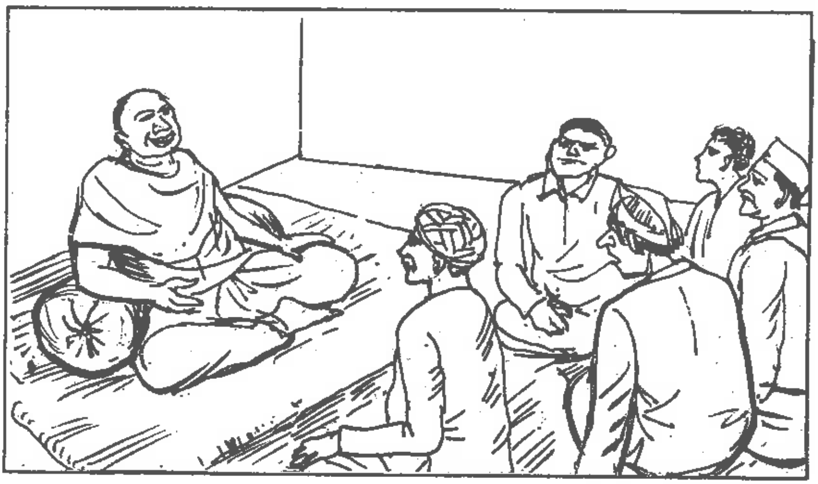

"इनके नाम से यदि किसी गृहस्थ ने दावा कर लिया तो ?"

"तुम बनते तो बहुत चतुर हो, पर समझते कुछ भी नहीं ।"

"क्यों महाराज ?"

"भाई ! इतना तो सोचो कि ये हस्ताक्षर मेरे नहीं – अदालत में यह बताने तो उसी साधु को जाना होगा, जिसका कि नाम हम लिखेंगे ।"

"इसका मतलब तो यह हुआ कि आपके अनुसार कोई अदालत में जावेगा ही नहीं ।"

"हम चाहते हैं कि जावें ।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि जिससे हमें यह प्रचार करने का मौका मिले कि विवेकियों ने साधुओं पर मुकदमा चलाया है, उन्हें अदालत में हाजिर करने को सम्मन निकलवाये हैं ?"

"इससे क्या होगा महाराज ?"

"अपने द्वारा किया गया विवेकियों का बहिष्कार सफल हो जावेगा।"

सभी एक साथ बोल उठे – "धन्य है, धन्य है महाराज; आपको छोड़कर हम व्यर्थ ही यहाँ-वहाँ भटके।

इसप्रकार विवेकियों के बहिष्कार का महान कार्य सम्पन्न हो गया और सभी खुशी-खुशी अपने घर चले गए।

"कैसे ?"

"ऐसे कि इन्होंने झूठा प्रचार किया है ।"

"अरे हम कहेंगे उन्होंने हस्ताक्षर कर दिए थे, अब विवेकियों के दबाव में बदल रहे हैं। हम झूठे कैसे साबित होंगे; उन्हें ही झूठा साबित न कर दें तो हमारा नाम नहीं। हमने कोई कच्ची गोलियाँ थोड़े ही खेली हैं ।"

"पर उनके हस्ताक्षर"

"उनके हस्ताक्षर की क्या आवश्यकता है ? अपन को तो नाम ही छापने हैं।"

"पर"

"पर यदि किसी ने चैलेन्ज किया तो ।"

"तो क्या, करने दो चलेन्ज ।"

"उन्होंने हस्ताक्षरों का ब्लॉक छापने को कहा तो ?"

"छापना तो हमारे हाथ ही है"

"यदि बात अदालत में पहुँच गई तो ?"

खिलखिलाते हुए महाराज बोले – "रहे मूर्ख के मूर्ख ही । क्या कोई साधु अदालत में जाएगा; और वे जो दिन भर आत्मा-आत्मा रटते रहते हैं । जिन विवेकियों को इतनी गालियाँ दीं, मारा-पीटा, फिर भी जब वे गृहस्थ होकर भी अदालत तक नहीं पहुँचे तो ये क्या जावेंगे ?"

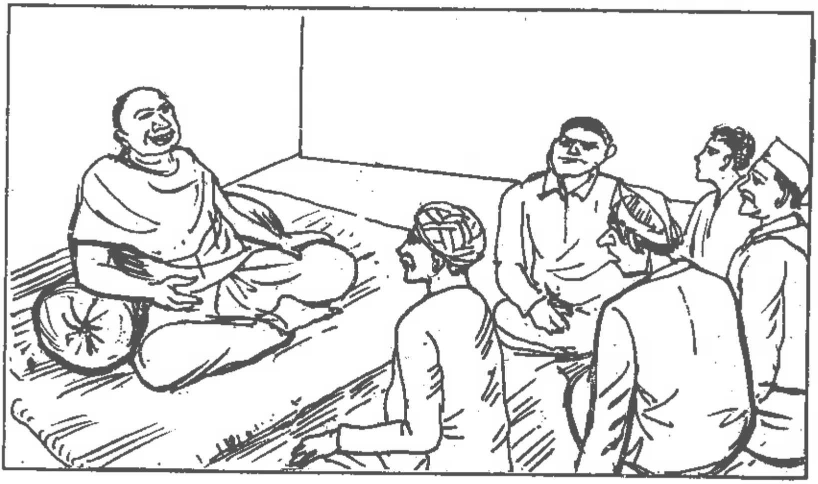

"इनके नाम से यदि किसी गृहस्थ ने दावा कर लिया तो ?"

"तुम बनते तो बहुत चतुर हो, पर समझते कुछ भी नहीं ।"

"क्यों महाराज ?"

"भाई ! इतना तो सोचो कि ये हस्ताक्षर मेरे नहीं – अदालत में यह बताने तो उसी साधु को जाना होगा, जिसका कि नाम हम लिखेंगे ।"

"इसका मतलब तो यह हुआ कि आपके अनुसार कोई अदालत में जावेगा ही नहीं ।"

"हम चाहते हैं कि जावें ।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि जिससे हमें यह प्रचार करने का मौका मिले कि विवेकियों ने साधुओं पर मुकदमा चलाया है, उन्हें अदालत में हाजिर करने को सम्मन निकलवाये हैं ?"

"इससे क्या होगा महाराज ?"

"अपने द्वारा किया गया विवेकियों का बहिष्कार सफल हो जावेगा।"

सभी एक साथ बोल उठे – "धन्य है, धन्य है महाराज; आपको छोड़कर हम व्यर्थ ही यहाँ-वहाँ भटके।

इसप्रकार विवेकियों के बहिष्कार का महान कार्य सम्पन्न हो गया और सभी खुशी-खुशी अपने घर चले गए।

३३

जहाँ विवेक है, वहाँ आनन्द है, निर्माण है; और जहाँ अविवेक है वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है, पर जिस समय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों में संलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसी समय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते हैं । वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं ।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है । यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है ।

जहाँ एक ओर विवेक के विरोधी विवेकियों के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में संलग्न थे, उनके बहिष्कार करने की योजनाएँ बना रहे थे। योजनाएँ क्या बना रहे थे, अपनी कुत्सित योजनाओं को कार्यान्वित भी कर चुके थे; वहाँ विवेक और विवेक के साथी गम्भीर तत्त्वचर्चाओं में संलग्न थे, आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाने में मग्न थे ।

उनकी चर्चा और चिन्तन के विषय बन रहे थे - छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, पंच-अस्तिकाय और आत्मा-परमात्मा ।

कोई निमित्त-उपादान की चर्चा में उलझा था, तो कोई निश्चय-व्यवहार की गुत्थियाँ सुलझा रहा था । किसी की समझ में यह नहीं आ रहा था कि जब सब-कुछ निश्चित है तो फिर करने को क्या रह जाता है ?

'इतना प्रयत्न करने पर भी मुझे आत्मा का अनुभव क्यों नहीं हो पा रहा है' - किसी को इस चिन्ता में नींद नहीं आ रही थी तो कोई इसलिए परेशान

था कि जब मैं एकान्त में विकल्पों को शान्त करने के लिए ध्यान में बैठता हूँ तो और अधिक विकल्पों के जाल में क्यों उलझता जाता हूँ ।

शांत-चित्त विवेक के अनुयायी ज्यों-ज्यों समाधान खोजते, त्यों-त्यों शंकाएँ उपजतीं; ज्यों-ज्यों उत्तर पाने का प्रयत्न करते, त्यों-त्यों प्रश्न खड़े होते जाते । समाधान और उत्तरों की खोज में व ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते, त्यों-त्यों शंका और प्रश्नों के घेरे और भी विस्तार पाते जाते; ज्यों-ज्यों विकल्पों को छोड़कर-तोड़कर निर्विकल्प होने का यत्न करते, त्यों-त्यों विकल्पों के जाल में उलझते जाते ।

एक दिन तत्त्वचर्चा के समय गोष्ठी में एक अनुयायी ने विवेक से पूछा कि जिस शुद्धात्मा की चर्चा आप करते हैं, जिसका अनुभव भी आप किया करते हैं, तथा जिसके अनुभव करने की, जिसको प्राप्त करने की प्रेरणा भी सबको निरन्तर दिया करते हैं – उस शुद्धात्मा की प्राप्ति का – आत्मानुभव करने का उपाय क्या है, मार्ग क्या है ? आखिर वह कब और कैसे प्राप्त हो ? कृपया इसके प्रयोग से परिचित कराइये।

विनम्र आत्मार्थी द्वारा श्रद्धापूर्वक पूछे गए प्रश्न को सुनकर शांत, गंभीर विवेक बोला –

"भाई ! अनिवर्चनीय प्रयोग को वचनों में कैसे व्यक्त करूँ ? निर्विकल्पक अनुभूति को विकल्पों में कैसे बाँधू ? **आत्मानुभूति तो करने की चीज है, व्यक्त करने की नहीं।** आत्मानुभूति तो ध्यान की अवस्था में प्राप्त होने वाली दशा है । यह दशा, दशा प्रकट करने के विकल्प से, दशा के लक्ष्य से प्राप्त नहीं होती; यह दशा तो दशा पर से दृष्टि हटाकर जिस स्वभाव में से यह दशा प्रकट होती है, उसका लक्ष्य करने से प्रकट होती है।"

विवेक की बात को ध्यान से सुन रहे जिज्ञासुओं में से एक बोला –

"हम तो जब ध्यान में बैठते हैं और निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति करने का यत्न करते हैं तो अन्तर में निर्विकल्प आत्मा तो दिखाई नहीं देती, वरन् विकल्पों का जाल ही उठता दिखता है। ध्यान के काल में सामान्य जीवन से भी अधिक विकल्प उठते हैं। ऐसा लगता है कि जिसप्रकार प्याज के छिलके

छीलने पर वे समाप्त ही नहीं होते हैं, छिलके ही छिलके निकलते चले जाते हैं; क्योंकि सम्पूर्ण प्याज ही छिलकामय होता है। उसीप्रकार आत्मा में भी विकल्प उठते जाते हैं, उनका कहीं पार ही दिखाई नहीं देता। लगता है जैसे आत्मा विकल्पमय ही हो।''

उन्हें समझाते हुए विवेक बोला –

''अरे भाई ! **आत्मा विकल्पमय नहीं, विकल्पातीत है।** पर ध्यान के प्राथमिक प्रयत्न में अनाड़ियों को ऐसा लगता अवश्य है, क्योंकि परलक्षी आत्माओं में विकल्पों के जाल तो निरन्तर ही उठते रहते हैं; किन्तु जब उनका उपयोग अन्यत्र होता है तो उनकी सत्ता का आभास नहीं होता, जब कभी वह अन्तर में झाँकने का यत्न करता है तो विकल्पजाल ज्ञान के ज्ञेय बनने लगते हैं। उसकी दृष्टि में इतनी तीक्ष्णता तो होती नहीं कि वह विकल्पों के पर्त को भेदकर उनके पीछे छिपी आत्मज्योति का साक्षात्कार कर सके। वह स्थूलदृष्टि विकल्पों के जाल को देखकर ही घबड़ा-सा जाता है और अन्तर में झाँकने के प्रयत्नों को भी छोड़कर फिर व्यवहार में उलझ जाता है।''

विवेक अपनी बात समाप्त ही न कर पाया था कि वह बोला –

''तो क्या हम लोग उस आत्मा की अनुभूति कर ही नहीं सकते हैं ?''

''क्यों नहीं ? अवश्य कर सकते हो । **तुम ही क्या, प्रत्येक आत्मा अपने में स्वयं परिपूर्ण है । स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी परिपूर्ण तत्त्व है ही, पर्याय में भी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे पर की ओर झांकने की आवश्यकता नहीं** – यह स्वयं अपनी भूल से दुःखी है और स्वयं अपनी भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है। प्रत्येक आत्मा स्वयं भगवानस्वरूप है और यदि पुरुषार्थ करे तो भगवानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करने में भी समर्थ है।''

''हम प्रयत्न तो बहुत करते हैं पर ....''

''अन्यथा प्रयत्न करके सफलता चाहो तो कहाँ से मिलेगी ?''

''तो आप सही उपाय बताइये न ?''

"हम तो प्रतिदिन सही मार्ग ही बताते हैं। जब जिसकी समझ में आ जावे, तब उसे मार्ग मिला कहा जावे। हमारे समझाने से क्या होता है?"

"समझाने से कुछ नहीं होता – इसका मतलब तो यह हुआ कि कार्योत्पत्ति में निमित्त का कोई स्थान नहीं है ?"

"अनेक कारणों में एक निमित्तकारण भी कहा जाता है। कार्योत्पत्ति में उसकी भी उपस्थिति अनिवार्य है। तत्त्व की प्राप्ति के पूर्व देशनालब्धि भी होती है। पर उपदेश तो सभी सुनते हैं, जिसका काल पक जाता है, जिसकी होनहार ठीक होती है, जो सही दिशा में सही पुरुषार्थ करता है, वह उद्यमी पुरुष सफल होता है, बाकी तो सब यों ही चलता रहता है।"

"इसका मतलब तो यह हुआ कि हमारा अभी काल नहीं पका, हमारी होनहार ठीक नहीं – इसीलिए आपके उपदेश का निमित्त पाकर और पुरुषार्थ करते हुए भी सफल नहीं हो पा रहे हैं ?"

"ऐसी बात क्यों करते हो ? भाई तुम्हारी होनहार ठीक लगती है, तुम्हारा काल पक गया लगता है, तभी तो तुम्हें अनुभूति प्राप्त करने की इतनी तीव्र जिज्ञासा जगी है, तभी तो तुम उसके बारें में बार-बार पूछते हो, चर्चा करते हो, विचार करते हो, मन्थन करते हो, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते हो।"

"यदि ऐसी बात है तो फिर हमें आत्मानुभव होता क्यों नहीं ?"

"जितनी कचास है, जितनी पुरुषार्थ में उग्रता की कमी है; उतनी ही देर है, भवितव्य भी ऐसा ही है। लगता है अब अधिक काल शेष नहीं है, चिन्ता न करो। तुम्हारी यह रुचि की तीव्रता ही बताती है कि अब अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी होगी।"

"तो"

"तो-तो कुछ नहीं। यह अधीरता का काम नहीं, सहज का धंधा है। इसमें उतावली नहीं चलती। भगवान आत्मा स्वयं अनुभूतिस्वरूप है। **अनुभूतिस्वरूप**

भगवान आत्मा को अनुभूति प्राप्त करने की भी आकुलता क्यों, व्याकुलता क्यों ? लगता है यही तेरी कचास है।"

"एक"

"एक-वेक कुछ नहीं; विकल्पों से बस होओ .... विकल्प-तरंगें अब और अधिक मत उठाओ; विकल्पों के पार झाँकने का यत्न करो, यत्न करने का भी तनाव मत रखो, सहज यत्न होने दो। **कुछ करो नहीं, बस होने दो, जो हो रहा है, बस उसे होने दो। फेर-फार का विकल्प तोड़ो, सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ। बन क्या जाओ, तुम तो सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हो। यह तनाव, यह आकुलता, यह व्याकुलता तुम हो ही नहीं।"**

"प्राप्त ...."

"प्राप्त-प्राप्त क्या कह रहे हो, तुम्हें कुछ भी तो नहीं पाना है, तुम तो परिपूर्ण हो, तुम अपनी परिपूर्णता को क्यों भूल रहे हो ? तुम्हारा ध्यान अपूर्णता की ओर जाता ही क्यों है ?"

"पर्याय में अपूर्णता है न ?"

"है तो रहने दो, तुम्हें उससे क्या ? तुम तो पर्याय नहीं हो, तुम तो परिपूर्ण हो । तुम तो वह हो - जिसमें से पर्यायें आती हैं, जाती हैं । तुम्हें उनसे क्या ? वे तो आनी-जानी हैं। तुम तो ध्रुव हो, स्थायी हो .... हो,.............. हो; तुम्हें होना नहीं है। तुम तो हो, हो .... हो.............. सिर्फ हो..............'

"जो हूँ - मात्र उसे देखें, उसे ही जानें, उसमें ही रम जावें, जम जावें - यही कहना चाहते हैं न आप ?"

"नहीं ! **देखो नहीं, देखना सहज होने दो; जानो नहीं, जानना सहज होने दो । रमो भी नहीं, जमो भी नहीं; रमना-जमना भी सहज होने दो । सब-कुछ सहज, जानना सहज, देखना सहज, जमना सहज, रमना सहज। कर्त्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जावो ।"**

"फिर..............?"

"फिर क्या ? कोई विकल्प नहीं ।'कोई विकल्प नहीं' - यह विकल्प भी नहीं; विकल्पातीत, वचनातीत, निर्विकल्पक, ज्ञान सहज, श्रद्धा सहज, रमणता सहज ।"

इसप्रकार न मालूम कब तक यह चर्चा चलती रही, और न जाने कब यह चर्चा अचर्चा में बदल गई।

न मालूम कितने अनुभूति प्राप्त कर पाये, कितने चर्चित विषयों को पकड़ पाये, कितने समझ पाये। यह भी पता नहीं चला कि कितने उसे पूरी तरह सुन भी पाये। कितनों को यह परमतत्त्व जचा, कितनों को पचा, कितनों को रुचा; पर जब चर्चा समाप्त हुई तो सबके चेहरे प्रफुल्लित थे, वातावरण में एक अद्‌भुत शांति थी। सभी मौन थे और चुप-चाप अपने-अपने घर चले गए। ●

देख ! देख !! देख !!!

अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों में नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्दजाल और वाक्‌विलास से परे है। यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है ।यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है। अतः समस्त परपदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठनेवाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक ! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

३४

आत्मानुभवी सत्पुरुषों के संपर्क में आकर, शुद्धात्मतत्त्व के प्रतिपादक शास्त्रों को पढ़कर आत्मा की चर्चा-वार्ता करना अलग बात है और शुद्धात्मा का अनुभव करना अलग।

अधिकांश जगत तो गतानुगतिक ही होता है। जो जिसप्रकार के वातावरण में रहता है; उसीप्रकार की बातें करने लगता है, व्यवहार करने लगता है; परन्तु वस्तु की गहराई तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं, अधिकांश तो हाँ-में-हाँ मिलाने वाले और ऊपर से वाह-वाह करने वाले ही होते हैं।

जो लोग तत्त्व की गहराई तक पहुँच जाते हैं, उन्हें तो परमतत्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है, किन्तु जो अपनी स्थूल बुद्धि के कारण परमतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते हैं; उन्हें भी इतना लाभ तो होता ही है कि वे जगत के वासनामय, कषायमय विषाक्त वातावरण से तो बहुत-कुछ बचे रहते हैं; उनका जीवन सहज सात्विक बना रहता है, परिणामों में भी निर्मलता बनी रहती है।

तथा यदि अच्छी होनहार हो तो काल पाकर उनका भी पुरुषार्थ जागृत हो जाता है और आज नहीं तो कल वे भी निजतत्त्व तक पहुँच ही जाते हैं।

आज की तत्त्वचर्चा में चर्चित आत्मानुभूति की प्रक्रिया और क्रम पर विचार करती हुई रूपमती अपने शयनकक्ष में पहुँची ही थी कि विवेक आ गया। वह न मालूम किस उधेड़-बुन में था कि उसने आते ही अलमारी में से अनेक शास्त्र निकाले और उनके पन्ने पलटने लगा।

उसका ध्यान भंग करती हुई रूपमती बोली -

"अब पढ़ने बैठोगे, पता नहीं दस बजने को है।"

पर मानो उसने कुछ सुना ही नहीं। वह बराबर अनेक ग्रंथ उठा-उठाकर पन्ने पलटे जा रहा था। उसका लक्ष्य अपनी ओर आकर्षित करती हुई रूपमती

जोर से बोली – ''सुना नहीं, मैंने क्या कहा ? अब सो जाओ । प्रातः पाँच बजे फिर जाग जावोगे, थोड़ा बहुत आराम भी तो करना चाहिए ।

''आराम, आराम नहीं तो यह कौन-सा काम कर रहा हूँ । जरा यह देख रहा था कि ....''

''फिर देख लेना, आज की चर्चा तो बहुत अच्छी रही, एक बात मुझे भी पूछनी है ?''

''चर्चा में क्यों नहीं पूछी ?''

''कुछ बात ही ऐसी है ।''

''बोलो, क्या पूछना चाहती हो ?''

''यही कि जिस आत्मानुभूति की चर्चा आप रोज करते हो, वह आत्मानुभूति आपको तो प्राप्त हो ही गई होगी ?''

रूपमती का प्रश्न सुनकर विवेक ठहाका मारकर हँस पड़ा, हँसता ही रहा; कुछ बोला नहीं और अपने काम में लगा रहा ।

जब उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया तो रूपमती ने आग्रह करते हुए कहा – ''बताओ न, चुप क्यों रह गए; आपकी यह पढ़ाई तो चलती ही रहेगी, यह तो कभी समाप्त होने वाली नहीं है ।''

पन्ने पलटते हुए विवेक बोला – ''पढ़ाई की बात नहीं है ?''

"तो क्या बात है, मेरे प्रश्नों का उत्तर आप क्यों नहीं देते ? सबके प्रश्नों का उत्तर आप देते हैं, मेरे प्रश्नों को यों ही टाल देते हैं ?"

"टालने की भी बात नहीं है ।"

"तो क्या बात है ?"

"यही कि तुम्हारे प्रश्न ही ऐसे होते हैं ।"

"ऐसे कैसे ?"

"कि हमसे उनका उत्तर दिया ही नहीं जाता, समझ लो हम तुम्हारे सामने निरुत्तर हो जाते हैं ।"

"ऐसा क्यों ?"

"तुम्हें पता नहीं, सेनापति सारी सेना पर शासन करता है, उस पर हुक्म चलाता है, पर उसकी पत्नी उस पर ...."

"तुम तो मजाक में टालते हो, उत्तर क्यों नहीं देते ?"

"तुम्हारा प्रश्न ही ऐसा है, क्या उत्तर दें ?"

"क्यों जी, इसमें क्या खराबी है ?"

"जानना ही चाहती हो ?"

"हाँ, जानना ही चाहती हूँ ।"

"तो सुनो ! कल चर्चा में जो प्रश्नोत्तर हुए थे, तुमने उन्हें ध्यान से सुने थे ?"

"सुने तो थे ।"

"प्रश्न क्या था ?"

"मुझे अभी याद थोड़े ही है ।"

"इतना भी याद नहीं ?"

"हाँ, नहीं है याद, आप जैसी बुद्धि कहाँ से लावें ?"

"इतना तो याद होगा ही कि पूछने वाले ने समाधानकर्त्ता पर शंका प्रगट नहीं की थी, अपितु यह कहा था कि जिस शुद्धात्मा की चर्चा आप करते हैं,

जिसका अनुभव भी आप किया करते हैं और जिसके अनुभव करने की प्रेरणा आप निरन्तर दिया करते हैं ?''

''कहा तो ऐसा ही कुछ था ।''

''कहाँ तो एक प्रश्नकार वह जो कि मेरे आत्मानुभव में विश्वास व्यक्त कर रहा था और कहाँ तुम, जो शंका से ही प्रश्न आरम्भ कर रही हो। इसीलिए तो कहा है कि देशनालब्धि में निमित्त आत्मानुभवी ज्ञानी ही होते हैं। जिसको उसमें ही शंका हो, जिससे वह आत्मानुभव की विधि जानना चाहता है, तो वह उससे प्रश्न ही क्यों करता है ? शंका होते हुए भी आत्मानुभव संबंधी प्रश्न करने वाला तो देशनालब्धि के स्वरूप से भी अपरिचित लगता है। जिसके आत्मानुभवी होने में शंका है, उससे तत्सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों में समय खराब करने की आत्मार्थी को कहाँ फुर्सत होती है ? उसको समाधान भी कहाँ से प्राप्त होगा, जिसकी शंका ही समाधानकर्त्ता के प्रति शंका से आरम्भ होती है।''

''शंका हो तो क्या करे ?''

''कम से कम इस शंका का समाधान तो जैसे भी हो, स्वयं ही करना होगा।''

''यदि हम न कर पावें तो उससे पूछ लेने में क्या हानि है ?''

''यही कि यदि उसने झूठ ही कह दिया कि मुझे आत्मानुभव है तो फिर आप इसका निर्णय कैसे करेंगे कि यह झूठ नहीं बोल रहा है तथा इसप्रकार तो कोई भी कह देगा । क्या उसके कहने मात्र से वह आत्मानुभवी हो जावेगा ? जो अपने गुरु का निर्णय भी स्वयं से नहीं करना चाहता है, उसका ठगाया जाना तो निश्चित ही है । जो मेरे जीवन से, वाणी से, व्यवहार से निर्णय नहीं कर पाया; उससे कहने से भी क्या होगा ।''

''कहे बिना पता भी कैसे चले ?''

''जगत को पता चले कि मैं ज्ञानी हूँ- ज्ञानी को इसकी आवश्यकता ही क्या है ?''

''बता देने में हानि भी क्या है ?''

"यही कि ज्ञानी अपने को अज्ञानी तो कहने से रहा और यदि ज्ञानी कहता फिरे तो जगत को अभिमानी-सा लगता है ।"

"इससे क्या ?"

"कहे तो फिर सिद्ध करे, अन्यथा जगत शंकायें व्यक्त करेगा ।"

"है तो फिर सिद्ध करने में क्या है ?"

"यही कि जगत परीक्षक बन जावे और वह परीक्षार्थी – ऐसी विषम स्थिति में वह अपने को क्यों डालना चाहेगा ?"

"फिर तत्त्व का प्रसार कैसे होगा ?"

"वह तो विकल्प आवेगा तो तत्त्व का प्रतिपादन करेगा। जिसको रुचेगा, जमेगा; वह सुनेगा, समझेगा और अपना हित कर लेगा। जिसको नहीं जचेगा, नहीं सुनेगा। हीरे की परख तो जौहरी को ही करनी होगी। कहा भी है न – 'हीरा मुख से न कहै, लाख हमारौ मौल' मैं भी एक बात तुमसे पूछूँ ?"

"पूछो न"

"जब कोई गणित के अध्यापक के पास गणित पढने जाता है तो क्या यह पूछता है कि क्या आपको गणित आती है ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि वह उसके पास यह जानकर, मानकर ही जाता है कि उन्हें गणित आती है।"

"यदि फिर भी पूछे तो ?"

"सब उसकी बातों पर हँसेंगे, उसे मूर्ख समझेंगे।"

"तो यही बात यहाँ समझना चाहिए।"

"फिर भी यदि कोई अनाड़ी पूछ ले तो ?"

"हँसने के अलावा और क्या उत्तर देगा वह ? बहुत से बहुत यही तो कहेगा कि कोई सवाल पूछकर देखो। बता पाऊँगा तो बताउँगा। उससे फिर जो कुछ तुम्हें समझ में आवे, समझ लेना ।"

"हाँ, कहेगा तो यही ।"

"और यदि वह यह कहने लग जावे कि तुम समझते क्या हो ? मैं बहुत बड़ा गणितज्ञ हूँ, ऐसा हूँ-वैसा हूँ; तो उसे जगत अभिमानी ही कहेगा ।"

"हाँ, बात तो ऐसी ही है।"

"तो फिर तुम्हें जो आत्मा के बारे में, आत्मानुभव के बारे में पूछना है; पूछो, जो कुछ मेरी समझ में आवेगा, बताऊँगा। उससे तुम्हारी समझ में जो आवे, मान लेना।"

"अच्छा तो मैंने जान लिया।"

"क्या जान लिया ?"

"मैं भी यह क्यों बताऊँ, जो जान लिया सो जान लिया ।"

"अच्छा, मत बताओ, पर कम से कम मुझे अब अपना काम तो करने दो।"

"हाँ, हाँ करो न अपना काम। दुनियाँ से दुनियाँ भर की बातें करेंगे और मैं कुछ बोलूँ तो इन्हें काम नहीं करने देती। तुम्हें तो मुझसे बात करने की फुर्सत ही नहीं है। मेरे बात करते ही तुम्हारे काम में नुकसान होने लगता है।"

"नाराज क्यों होती हो ? इतनी बातें तो करलीं तुमने।"

"करलीं तो क्या हो गया ?"

"और भी करनी है क्या ? लो, अब आज तुम जी-भर कर पूछ लो, फिर लड़ना मत।"

"मैं तो जैसे तुमसे लड़ती ही रहती हूँ। तुम्हें बात करने की तो फुर्सत नहीं, लडूँगी कब ?

"अच्छा बोलो, क्या कहना चाहती हो ?"

"मुझे भी आत्मानुभव करना सिखा दो न, आत्मानुभव करने की विधि बता दो न।"

"अरे भाई ! आत्मानुभव सिखाया नहीं जाता, किया जाता है।"

"जैसे तुम तत्त्वाभ्यास की कक्षायें लगाते हो, उसीप्रकार ध्यान की भी कक्षायें लगाया करो न।"

"**कक्षायें ज्ञान की लग सकती हैं, ध्यान की नहीं। ध्यान तो एकदम व्यक्तिगत चीज है।** रही विधि की बात सो तो प्रवचन में बताते ही हैं प्रतिदिन। ध्यान से सुना करो प्रवचन।"

"सुनते तो हैं ही, पर सुनते-सुनते तो इतने दिन हो गये, आत्मानुभव तो हुआ नहीं, उसका मार्ग भी मिला नहीं। आप ...."

"**मार्ग अन्तर की रुचि में से ही मिलेगा, पर के भरोसे कुछ नहीं होगा।** तुम्हारी रुचि की तीव्रता देखकर लगता है कि मार्ग अवश्य मिलेगा। वह दिन अब दूर नहीं ....।"

इसीप्रकार चर्चा करते-करते जब घड़ी पर ध्यान गया तो देखा कि बारह बज गए हैं।

विवेक ने जल्दी-जल्दी पुस्तकें समेटीं और उन्हें अलमारी में रखने लगा तथा रूपमती सोने की तैयारी में जुट गई।

३५

सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एक आत्मा में ही दृष्टि केन्द्रित कर देने में जीवन की सार्थकता समझने वाले आत्मार्थीजन एक तो सहज ही सांसारिक गतिविधियों से अलिप्त रहते हैं, अपरिचित रहते हैं, फिर जो गतिविधियाँ अत्यन्त गुप्तरूप से संचालित हों, आत्मार्थियों का उनसे बेखबर रहना तो स्वाभाविक ही है।

विवेक और विवेक के साथी भी आचार्यों के नाम से निकलने वाले उनके बहिष्कार के आदेश से अनभिज्ञ ही थे । किन्तु जब उन्हें पता चला कि उनके बहिष्कार का कोई आदेश आचार्यों के नाम से निकला है, तो वे आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहे।

इस अप्रत्याशित आक्रमण से विवेक के साथी तिलमिला उठे । वे इसके लिए बिल्कुल तैयार न थे, क्योंकि वे तो समझ रहे थे कि अब सब-कुछ ठीक हो गया है। इसका भी कारण यह था कि कुछ दिनों से कहीं कोई हलचल न थी, सर्वत्र शान्ति थी। अन्दर-अन्दर जो कुछ चल रहा है, इसका उन्हें आभास भी न था।

मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए वे सब मिलकर जब विवेक के पास पहुँचे, तब विवेक गम्भीर चिन्तन में मग्न था और सामने मेज पर अनेक खुली हुई पुस्तकें रखी थीं।

असमय में आये हुये उद्विग्न साथियों को देख विवेक बोला –

"आओ बैठो, आज इस समय सब एक साथ कैसे ?"

वह अपनी बात पूरी ही न कर पाया था कि आगन्तुकों में से एक बोला – "आपको पता नहीं, आज हम सब विधर्मी हो गए हैं, अधर्मी हो गये हैं।"

"पहेली न बुझाओ, साफ-साफ कहो क्या बात है ?"

"आचार्यों के नाम से आज एक फरमान निकला है। जिसमें आप सहित हम सबका बहिष्कार कर दिया गया है, हम सबको समाज बाहर, जाति बाहर, धर्म बाहर कर दिया गया है ।"

"तो यह बात है, पर आप उत्तेजित क्यों हो रहे हैं ?"

"वे हमारा बहिष्कार कर दें और हम ...."

"तुम्हें धर्मी किसने बनाया था ?"

"किसी ने नहीं ।"

"तो फिर चिन्ता मत करो, तुम्हें कोई अधर्मी या विधर्मी भी नहीं बना सकता है । यदि तुम किसी के आदेश से धर्मी बने होते तो किसी के आदेश से अधर्मी या विधर्मी भी बन सकते थे ।

क्या तुमने आज तक यही सीखा है ? क्या कोई किसी के बनाने से कुछ बनता है, या अपने पुरुषार्थ से बनता है, अपने भाग्य से बनता है?"

"पर उन्होंने तो बना ही दिया ?"

"क्या बात करते हो, क्या उन्होंने अपने आदेश से आज तक एकाध को धर्मी भी बनाया है ? क्या उन्होंने आज तक किसी को साधर्मी बनाने का आदेश भी निकाला है ?"

"नहीं, पर यह आदेश तो उनके नाम से ही छपा है ।"

"मैं नहीं मान सकता कि कोई आचार्य ऐसा आदेश भी निकाल सकते हैं ? **जिनके मुख से सभी को 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद ही निकलता है, जिनकी वाणी से निरन्तर उपदेशामृत ही झरता है, वे कभी किसी के अधर्मी या विधर्मी होने का आदेश निकालेंगे - यह बात समझ में आने जैसी नहीं है** । आप लोग कोई उत्तेजित न हों, अपने-अपने तत्त्वाभ्यास में

ही लगे रहें, कुछ न करें, कुछ भी चिन्ता न करें, समय पर सब-कुछ स्पष्ट हो जावेगा ।"

"तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि यह आदेश आचार्यों का निकाला हुआ नहीं है ?"

"होना तो ऐसी ही चाहिए। फिर मैं सर्वज्ञ तो हूँ नहीं ।"

"तो हमें उनसे मिलकर सच्चाई का पता करना चाहिए ?"

"क्या आवश्यकता है ? समय पर सब पता स्वतः चल जावेगा । तुम क्यों इन व्यर्थ की बातों में अपना समय खराब करना चाहते हो ? भाई ! यह मनुष्य-भव बहुत छोटा है । कितनी-सी उम्र है आजकल, उसमें भी कितनी विघ्न-बाधाएँ हैं ? और अपनी आयु का हमें पता भी तो नहीं; न मालूम कब समाप्त हो जावे ? अतः इस दुनिया की उधेड़-बुन से दूर रहना ही ठीक है । यह सब तो यों ही चलता रहेगा ? तुम जाओ अपना स्वाध्याय शान्ति से करो । "

"ऐसे में तो शान्ति से स्वाध्याय आप ही कर सकते हैं। हमारे····"

"अरे भाई ! आत्मा का हित करना है तो ऐसे में ही करना होगा। निर्बाध समय की प्रतीक्षा में बैठे रहोगे तो कुछ भी न कर पाओगे ।

एक घुड़सवार था, उसका घोड़ा प्यासा था । वह एक ऐसे कुए के पास पहुँचा, जिस पर रहट चल रहा था । वह घोड़े को पानी पिलाना चाहता था, पर रहट की आवाज से घोड़ा उत्तेजित हो रहा था, बिचक रहा था, पानी पी ही नहीं रहा था।

उसने रहट चलाने वाले किसान से कहा — 'भाई! जरा रहट चलाना बन्द कर दो, जिससे यह चिक-चिक बन्द हो तो घोड़ा शान्ति से पानी पी ले।'

उसके अनुरोध को स्वीकार कर किसान ने रहट चलाना बन्द कर दिया तो पानी आना भी बन्द हो गया। अब शान्ति तो थी, पर पानी नहीं था, घोड़ा पिये क्या ?

किसान बोला - 'भाई ! पानी पीना है तो चै-चै, पै-पै में ही पीना होगा। अन्यथा प्यासे ही रहोगे।

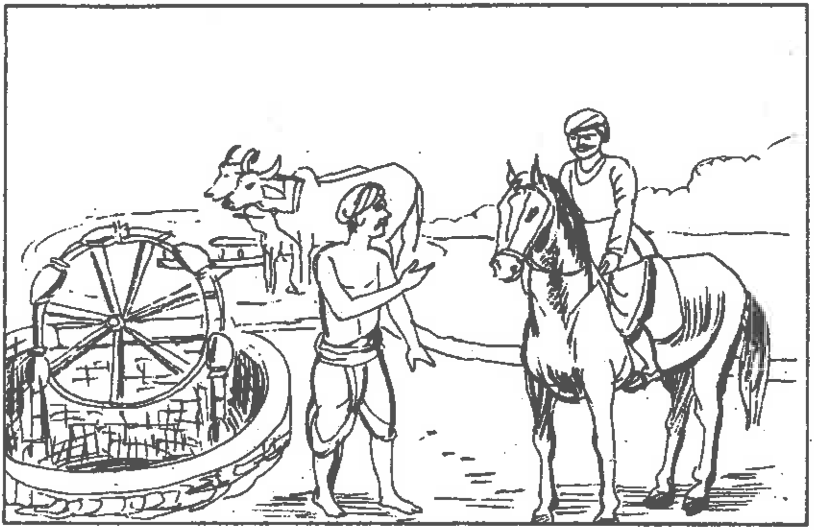

उसीप्रकार यदि **आत्महित करना है तो इन प्रतिकूल संयोगों में ही करना होगा। इन संयोगों को हटाना अपने हाथ की बात तो है नहीं। हाँ, हम चाहें तो इन संयोगों पर से अपना लक्ष्य हटा सकते हैं, दृष्टि हटा सकते हैं। यही एक उपाय है आत्महित करने का, अन्य कोई उपाय नहीं।**"

"लेकिन हम तो समाज में रहते हैं ।"

"समाज में रहते हो तो रहो न । कौन रोकता है तुम्हें, क्या तुम जो इतने लोग हो, वह समाज नहीं है ? लोगों के समुदाय को छोड़कर और समाज क्या है ?"

"तो क्या हम अपनी समाज अलग बना लें ?"

"क्या आवश्यकता है समाज बनाने की, वह तो बनी बनाई है, उसे तुम क्या बनाओगे ? क्यों व्यर्थ कर्त्तत्व का अहंकार करते हो "

"यदि उन्होंने हमें मन्दिर नहीं आने दिया होता तो ?"

"किस जमाने में रह रहे हो तुम ? आज कोई किसी को मन्दिर आने से रोक सकता है क्या? एक हरिजन को भी रोक के देखे तो कोई ?"

"तो क्या करें ?"

"कहा है न कि कुछ नहीं। करना ही है तो स्वाध्याय करो, मनन करो, चिन्तन करो और यदि बन सके तो अपने में ही जम जाओ, अपने में ही रम जाओ, सुखी होने का एकमात्र यही कार्य है।"

"इस समस्या से निबटने का क्या और कोई मार्ग नहीं है ?"

"भाई ! विवेक का मार्ग तो यही है, विवेकी तो दूसरे मार्ग पर जाने की सोच भी नहीं सकता।"

"आप कुछ भी कहें पर यह अच्छा नहीं हुआ।"

"अच्छा और बुरा – क्या होता है ? जगत में जो कुछ भी घटित होता है, वह अपने एक निश्चित नियमित क्रम में घटित होता है। उसी में राग के वशीभूत कोई अच्छाई देखता है और कोई द्वेष के वशीभूत बुराई देखता है। वीतरागभाव से देखने वाले ज्ञानियों के तो प्रत्येक घटना मात्र ज्ञान का ज्ञेय बनकर रह जाती है। जिसमें तुम बुराई देख रहे हो, हो सकता है उसमें से भी कोई अच्छाई निकले ?"

"यह तो आपकी महानता ही है कि जो आप इसमें भी अच्छाई खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं ।"

"मैं मात्र प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि इस घोषणा का भविष्य क्या होने वाला है।"

"क्या होने वाला है – कुछ हमें भी बताइये न ?"

"वही जो इस आध्यात्मिक क्रान्ति के रोकने के अभी तक के प्रयासों का हुआ है; क्योंकि मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि **इन उत्तेजनात्मक हथकण्डों की उम्र बहुत कम होती है। उत्तेजना में आदमी को अनंत प्रयत्नों के बाद भी बहुत देर तक रखा नहीं जा सकता है। जिसप्रकार पानी को बहुत देर तक गर्म रखा नहीं जा सकता है, वह निरन्तर शीतलता की ओर दौड़ता रहता है, यदि उसे अग्नि का संयोग देते रहकर निरन्तर गर्म**

रखने का प्रयास किया गया तो वह रहेगा ही नहीं, समाप्त हो जावेगा, भाप बनकर उड़ जावेगा। उसे यदि अधिक काल तक रखना है तो शीतल ही रखना होगा। गर्म रखने के लिए ईंधन भी चाहिए, पर ठण्डा रखने के लिए कुछ भी नहीं चाहिए। इसीप्रकार समाज को शान्त रखने के लिए प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं, पर उत्तेजित रखने के लिए निरन्तर प्रयास चाहिए। निरन्तर के प्रयासों से समाज को उत्तेजित रख पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, तथा यदि रखने का प्रयास किया गया तो अनेक समस्यायें उठ खड़ी होंगी, जिनसे समाज को बचाना सम्भव न होगा।''

''तो आपको इसकी कोई चिन्ता नहीं है ?''

''बिल्कुल नहीं है ।''

''दुःख भी नहीं है ?''

''दुःख तो है, पर इस बात का कि इन लोगों ने अपनी इज्जत तो दाव पर लगाकर पहिले ही समाप्त कर ली थी, अब आचार्यों की इज्जत भी दाव पर लगा दी है और वह भी उस दाव पर, जिसमें हारना निश्चित है ।''

''क्यों ?''

''क्योंकि इस आदेश के क्रियान्वयन का प्रायोगिक रूप क्या होगा – इस पर उन्होंने विचार ही नहीं किया है । इसे वे किस रूप में क्रियान्वित करेंगे ? बिना क्रियान्वयन की व्यवस्था के आदेशों का क्या मूल्य है ?''

''क्रियान्वयन न होने से आचार्यों की इज्जत का क्या सम्बन्ध ?''

''यही की जब उनके आदेशों का क्रियान्वयन नहीं हुआ तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि समाज उनके साथ नहीं है ?''

''अर्थ तो यही होना चाहिए ।''

''तो समझ लो बात समाप्त है। क्योंकि जिस घोड़े की लगाम सवार के हाथ में न हो उस घोड़े पर समझदार सवार तो सवार होगा नहीं और जो होगा उसका क्या भविष्य होगा – वह भगवान ही जानें ।''

"आप सोचते तो बहुत दूर की हैं ?"

"भाई ! इसमें क्या है; आत्मोन्मुखी दृष्टि ही दूरदृष्टि है, यह सब तो सामान्य बातें ही हैं ।"

"तो आपका यही आदेश है कि इस बारे में कुछ न किया जाए ?"

"हाँ, हाँ; बिल्कुल यही। ऐसा, कौन मूर्ख होगा जो अन्तिम साँसें गिन रहे व्यक्ति पर प्रहार कर बिना प्रयोजन ही हत्यारा बनकर फाँसी पर चढ़ने की बेवकूफी करेगा। इस बारे में कुछ करना तो है ही नहीं, कुछ सोचना भी नहीं है। अपनी सम्पूर्ण शक्ति आत्महितकारी शास्त्रों के अभ्यास में लगाओ, आत्मानुभव करने के प्रयत्न में लगाओ, हमारा तो यही आदेश है, यही उपदेश है।"

विवेक का उपदेश आदेश की भाँति स्वीकार कर सभी अपने-अपने घर की ओर चल दिये । आते समय जो उत्तेजना उनके चेहरों पर दिखाई दे रही थी, जाते समय उसका नामोनिशान भी नहीं था।

३६

इस भौतिकवादी जगत में जहाँ कि सभी लोग पंचेन्द्रियों के विषयों में उलझे हों, उन्हें ही जोड़ने में व्यस्त हों, भोगने में संलग्न हों; वहाँ भोगों से विरत करने वाली आध्यात्मिक ज्योति को जलाए रखना ही दुष्कर है, तो उसके प्रकाश से जन-जन को आलोकित कर देना कोई आसान काम नहीं है ।

यदि विरोधियों के सक्रिय विरोध का सहयोग नहीं मिलता तो हो सकता है कि विवेक से भी यह सब-कुछ नहीं हो पाता। विरोधियों द्वारा किये निम्नस्तरीय सक्रिय विरोध ने इस आध्यात्मिक क्रांति को निरन्तर चर्चा का विषय बनाये रखा और जनसामान्य का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान तो दिया ही; साथ ही विवेक के शालीन व्यक्तित्व को उभारने के लिए अपने हीन हथकंडों से युक्त बौने व्यक्तित्व को भी प्रस्तुत रखा, जिसकी तुलना में विवेक के व्यक्तित्व की ऊँचाइयाँ प्रस्फुटित हो सकीं ।

विरोध की निष्क्रियता के कारण कुछ दिनों से विवेक और विवेक द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति भी अचर्चित हो गई थी। सामाजिक शान्ति होने से विवेक और उसके साथियों को यद्यपि आध्यात्मिक गहराइयों में गोते लगाने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो रहा था, तथापि उसका विस्तार कुछ अवरुद्ध-सा हो गया था ।

विवेक और विवेक के साथियों के बहिष्कार सम्बन्धी आचार्यों के आदेश से होहल्ला के साथ किये गये व्यापक प्रचार ने एक बार फिर इस आध्यात्मिक क्रांति को जन-जन की चर्चा का विषय बना दिया ।

स्थान-स्थान पर आचार्यों के आदेश की चर्चा हो रही थी । विवेक के विरोधियों के वे साथी भी आश्चर्यचकित थे, जो कि दो आचार्य-संघों से आदेश-प्राप्त नहीं हो पाने पर हुई मीटिंग में इस विषय को लेकर उनसे अलग हो गये थे । उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि दो-दो आचार्य-संघों

से असफलता प्राप्त करने के बावजूद भी इन्हें इतनी जल्दी इतने आचार्यों से बहिष्कार के आदेश कैसे प्राप्त हो गए ?

वे आपस में चर्चा कर रहे थे। एक ने कहा –

"इसमें कुछ दाल में काला नजर आता है।"

दूसरा बोला –"लगता तो कुछ ऐसा ही है।"

तीसरे ने प्रस्ताव रखा – "जिन आचार्यों के नाम से आदेश निकला है, हमें उनके पास चलकर इसकी सत्यता का पता लगाना चाहिए।"

तीसरे की बात से असहमति व्यक्त करता हुआ चौथा बोला – "क्या लाभ है ? कुछ भी हुआ हो, अपन विवेक का पक्ष तो ले नहीं सकते। फिर इस बात का पता लगा लेने से भी क्या होगा ? जो हो रहा है, देखे जाओ।"

पाँचवें ने टोका – "क्यों, विवेक का साथ देने में क्या अड़चन है ?"

"यही कि अबतक तो उसका विरोध करते आए हैं, अब उसका समर्थन कैसे करें ? लोग क्या कहेंगे ?"

"क्या कहेंगे लोग, यदि बात सत्य है तो समर्थन करना ही चाहिए।"

"तुम समझते तो कुछ हो नहीं। लोग कहेंगे – ये दलबदलू हैं।"

"अरे भाई ! इसमें काहे का दल और काहे के दलबदलू ? इसमें कौन–सा राज्य मिल रहा है।"

"राज्य तो नहीं मिल रहा है।"

"पर क्या ?"

"पर वे लोग अपन को भी छोड़ेंगे नहीं। जानते नहीं, आज तक जो भी उनका साथ छोड़कर विवेक के पास गया है, उन सबको इन्होंने कितना बदनाम किया है ?"

"सो तो पता है।"

"तो फिर ऐसी बातें क्यों करते हो ? चुप बैठे रहो अपने घर, नहीं तो कल यही कहा जावेगा कि आप भी बिक गए हैं, विवेक ने आपको भी

खरीद लिया है। और भी जो संभव होगा, आपके विरुद्ध विष-वमन किया जायेगा।"

"अन्याय के विरुद्ध चुप रहना भी तो ठीक नहीं।"

"नहीं है तो जो तुम्हारी समझ में आवे करो, हम तो ····· फिर भोगना उसका फल।"

"जो होगा सो देखा जाएगा, कोई आसमान तो टूटने से रहा ?"

मध्यस्थ प्रकृति के लोगों में भी यही चर्चा चल रही थी ।

कोई कह रहा था - "आचार्य लोग ऐसा आदेश निकालेंगे - यह बात समझ में तो नहीं आती ।"

दूसरा कहने लगा - "भाई ! इसमें समझ में नहीं आने वाली क्या बात है साफ-साफ तो लिखा है ।"

"लिखा तो साफ-साफ ही है, पर उन्होंने ही लिखा है, या उनके नाम से ···"

"शंका है तो चलो, चलकर पूछ लेते हैं न ? अपने तो आचार्य महाराज से बहुत अच्छे सम्बन्ध हैं ।"

"भाई, इसमें अच्छे सम्बन्धों की क्या आवश्यकता है, यह तो सीधी-सी बात है, कोई भी पूछ सकता है ।"

"बात तो ऐसी ही है पर.........."

"पर क्या ?"

"यही कि उनसे यह कैसे पूछ सकते हैं कि आपने इस आदेश पर हस्ताक्षर किये या नहीं ?"

"क्यों, इसमें क्या बात है ?"

"यही कि यह तो उनके प्रति शंका करना हो गया ।"

"इसकी चिन्ता न करो, हम इस तरकीब से बात करेंगे की उनमें शंका भी व्यक्त न होगी और सच्ची बात भी सामने आ जायेगी।"

"वह तरकीब हमें भी बता दीजिए न ।"

"आपको बता देंगे तो फिर हमें कौन पूछेगा ?"

"अच्छा तो चलो, आप ही बात करना, हम सब चुप रहेंगे।"

"ठीक है।"

सभी मिलकर समीपस्थ एक आचार्य-संघ में पहुँचे। आचार्य महाराज को सविनय नमस्कार कर सभी बैठ गए। जब आचार्य महाराज ने अपने स्वाध्याय से विरत हो उन्हें 'धर्मबृद्धि' दी और आने का कारण पूछा तो उनमें से एक बोले – "आपका आदेश तो प्राप्त हो गया, अब उसके क्रियान्वयन के लिए हमें क्या करना है ?"

आश्चर्यचकित महाराज बोले – "कैसा आदेश ? हमने तो किसी को कोई आदेश नहीं दिया ।"

"वही आदेश जो आपके नाम से अखबारों में छपा है ।"

"क्या कहा ? अखबारों में छपा है। और हमारे नाम से । हमारा, अखबारों से क्या काम ?"

"आपके नाम से आदेश छपा और आपको पता नहीं ?"

"पता, मुझे तो तुमसे सुनकर ही पता चल रहा है ।"

"यह बात है, तो फिर हम आपके नाम से प्रतिवाद छपवा दें कि आपने कोई आदेश नहीं निकाला है ।"

"हमने कहा न कि हमारा अखबारों में छपाने-वपाने से क्या सम्बन्ध ?"

"यदि प्रतिवाद नहीं देंगे तो फिर तो यही माना जायेगा कि आपने ही छपाया है।"

"ऐसा क्यों ? क्या अखबार वाले की कोई जिम्मेदारी नहीं, क्या वह किसी के नाम से कुछ भी छाप सकता है ? क्या हमारे नाम से कुछ छापने से पूर्व हमसे जानकारी प्राप्त करने की भी आवश्यकता नहीं ?"

"आवश्यकता तो सब-कुछ है, पर यदि आप प्रतिवाद न करें तो ..."

"हम कहाँ-कहाँ प्रतिवाद करने जावेंगे ? जिसके मन में जो कुछ आवे, और हमारे नाम से छाप दे और हम जगह-जगह प्रतिवाद करते फिरें, क्या हम साधु इसलिए बने हैं ।"

"आप साधु किसलिए बने हैं, यह तो आप जानें, हमें तो यह बतावें कि हम लोग क्या करें ?"

"जो तुम्हारी समझ में आवे, हम कुछ नहीं जानते ।"

"आपको हमारा मार्गदर्शन तो करना ही चाहिए ।"

"भाई! हम मुक्तिमार्ग के पथिक हैं, हमें वही मार्ग दिखाई देता है, चाहो तो मुक्तिमार्ग का मार्गदर्शन कर सकते हैं। सो उस रास्ते तुम लोगों को जाना नहीं है, अतः उसके मार्गदर्शन की तुम्हें आवश्यकता नहीं है। तुम्हें तो तोड़-फोड़ का मार्गदर्शन चाहिए सो हमारे वश की बात नहीं है। हमने तो अपनी ओर से कोई भी बात अखबारों में छापने की न किसी से कही है और न अब कहेंगे। तुम्हारे झगड़ों में फँसकर हमें अपना यह दुर्लभ नरभव यों ही नहीं गंवाना है।

अब आप लोग पधारें, हमें अपना काम करने दें । शास्त्रों में ठीक ही कहा है कि प्रपंचों में उलझ गृहस्थी की संगति साधु को पलमात्र भी नहीं करनी चाहिए।"

"महाराज, आप हमसे व्यर्थ ही नाराज हो रहे हैं; हमने तो कुछ किया नहीं, हम तो।"

"ठीक है, ठीक है; भैया हम किसी से नाराज नहीं हैं।"

- कहते हुए महाराज अपने स्वाध्याय में मग्न हो गए, और वे लोग भी वास्तविक स्थिति से परिचित होकर चल दिए।

चलते-चलते रास्ते में एक बोला - "भाई ! बात तो सब स्पष्ट हो गयी, पर अब क्या किया जाए ?"

दूसरे ने कहा - "महाराज के नाम से उक्त आदेश का प्रतिवाद निकाल देना चाहिए, जिससे समाज सत्य को जान सकें।"

"पर महाराज ने तो अनुमति नहीं दी।"

"महाराज ने तो उन लोगों को भी आदेश निकालने की अनुमति नहीं दी थी। जब उन लोगों ने बिना अनुमति के आदेश निकाल दिया तो अपन को क्या है ?"

"फिर अपने में और उन लोगों में क्या अन्तर रहेगा ? अपन लोग भी उन जैसे अप्रामाणिक हो जावेंगे।"

"हो तो जावेंगे, पर इसका प्रतिवाद भी कैसे हो ?"

"हो तो हो, न हो तो न हो; पर ऐसा काम करना अपने को शोभा नहीं देता।"

"आपको शोभा की लग रही है और ...."

"नहीं भाई ! चाहते तो हम भी हैं कि सत्य बात का समाज को पता चले, पर कोई रास्ता दिखाई नहीं देता।"

उनमें से चतुर दिखाई देने वाला एक व्यक्ति आगे आता हुआ बोला–

"रास्ता मैं बताता हूँ।"

सभी एक साथ बोले –"बताइये।"

तब वह इसप्रकार कहने लगा –"अपन अखबारों में ऐसा निकालें कि अत्यन्त विश्वस्त सूत्रों से पता चला है कि विवेकियों के विरुद्ध जो आदेश निकला है, वह नकली है। उसमें जिन आचार्यों के नाम दिए गए हैं, उसमें से अनेकों को तो पता ही नहीं है कि उनके नाम से कोई आदेश भी निकाला है। अत: निकालने वाले समाचारपत्रों की जिम्मेवारी है कि अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए आदेश के साथ आचार्यों के हस्ताक्षरों के ब्लॉक भी छापें, अन्यथा यह समझा जावेगा कि वह आदेश नकली है।

हमें यह पूरा–पूरा विश्वास है कि जिन आचार्यों ने उस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं, वे अब भी नहीं करेंगे; क्योंकि वे सत्यव्रत के व्रती होते हैं"

"बात तो ठीक है, क्योंकि इसमें आचार्य महाराज की ओर से भी कुछ निकाला नहीं और बात स्पष्ट हो ही जावेगी ।वे आचार्यों के आदेश पर उनके हस्ताक्षरों से युक्त ब्लॉक तो छापने से रहे ।"

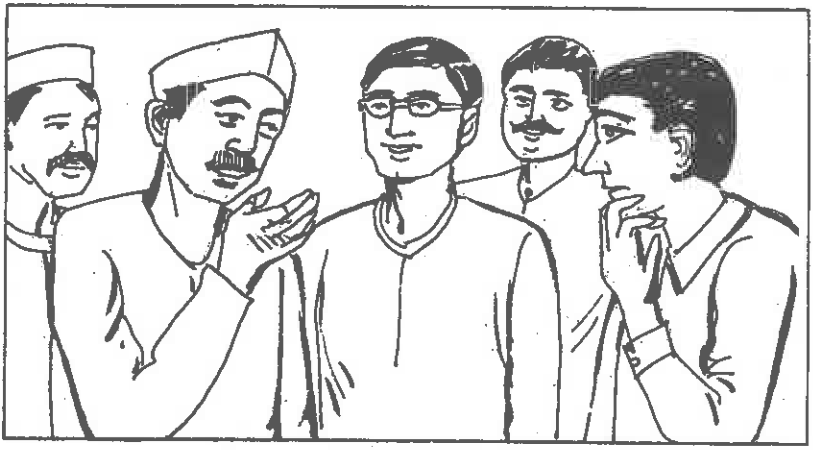

बीच में ही तीसरा बोला – "यह करेगा कौन और किसके नाम से करेगा ?"

"क्यों, कोई भी कर देगा और अपने नाम से ही करेगा।"

"तो फिर वह भी किसी न किसी रूप में बदनाम होने के लिए तैयार रहे, जानते नहीं वे लोग तीव्रकषायी हैं, उसे यों ही नहीं छोड़ देंगे।"

यह बात सुनकर सन्नाटा छा गया। पर वही चतुर व्यक्ति मुस्कराते हुए बोला – "चिन्ता न करो, इसका भी इन्तजाम हो जावेगा।"

"क्या करोगे ?"

"यही कि 'विवेकी' नाम से छपवा देंगे।"

"बिना नाम पते के छपवाओगे तो छापेगा कौन ?"

"तुम तो बहुत आगे-पीछे की सोचते हो, कुछ हमारी बुद्धि पर भी भरोसा करो, कुछ न कुछ रास्ता निकालेंगे ही, किसी न किसी को तैयार कर ही लेंगे, चिन्ता क्यों करते हो ?"

सभी बोले – "अच्छा ठीक है, यह काम आपके जिम्मे रहा।"

"हाँ-हाँ, रहा।"

– कहते हुए वह मुस्कराने लगा। और सब अपने-अपने घर चले गए।

३७

जब कोई व्यक्ति जीवन की बाजी लगाकर भी ऐसा कार्य करता है कि जिसके हो जाने पर उसे बहुत ही सुखद फल मिलने की आशा हो, मनोरथ सफल हो जाने का पूरा-पूरा विश्वास हो; यदि उस दुष्कर कार्य को किसी भी प्रकार सम्पन्न कर लेने पर भी अनुकूल फल तो न मिले, उल्टी आलोचना होने लगे, लेने के देने पड़ जावें तो उसका मानसिक सन्तुलन ही बिगड़ जाता है।

यदि यही बात किसी समुदाय के बारे में हो तो उसका परिणाम और भी भंयकर होता है; क्योंकि समुदाय में अनेक व्यक्ति होते हैं, और वे सब मानसिक सन्तुलन खोकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगते हैं और उस मैं-मैं तू-तू में बहुत से ऐसे रहस्य सहज ही खुल जाते हैं, जिनके कि सहज में खुलने की सम्भावना नहीं रहती।

उन रहस्यों के खुलने से उनका सामाजिक आधार भी समाप्त हो जाता है।

विवेक के विरोधी भी आचार्यों के नाम से आदेश निकालकर समझ रहे थे कि मानो उन्होंने किला जीत लिया है, शेर मार लिया है। विजयी मुद्रा में मदोन्मत्त हो वे उसका प्रचार-प्रसार बड़े ही जोर-शोर से कर रहे थे। उनका विश्वास था कि इस आदेश के निकलते ही मानो सब-कुछ हो जाएगा; विवेक और विवेक के साथी सब बहिष्कृत हो जावेंगे। इस समाज में उनका कोई नाम-लेवा, पानी-देवा भी न रहेगा। बस फिर हम ही हम दिखेंगे, और फिर ....।"

इसप्रकार कल्पना-लोक में विचरण करने वाले विवेक के विरोधियों ने जब देखा कि उनके द्वारा प्रचारित आचार्यों के आदेश का समाज पर कोई प्रभाव देखने में नहीं आ रहा है तो वे चिन्तित हो उठे।

इस पर विचार करने के लिए उन्होंने जब अपने अत्यन्त विश्वस्त व्यक्तियों की मीटिंग बुलाई और उसमें विचार-विमर्श हुआ तो सभी मिलकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे की प्रचार व प्रसार की कमी से लोगों तक यह आदेश पहुँच

नहीं पा रहा है; अतः इसका प्रचार-प्रसार जोर-शोर से किया जाना चाहिए। अब मात्र अखबारों और पेम्फलेटों के भरोसे ही यह कार्य नहीं छोड़ा जाना चाहिए। अब तो सब लोगों को स्वयं जगह-जगह जाकर मीटिंगें करना चाहिए और इस आदेश को जन-जन तक पहुँचाने का एक अभियान छेड़ा जाना चाहिए। क्योंकि यह अन्तिम हथियार था, यदि यह भी नाकामयाब हो गया तो फिर हम लोगों की दशा भी 'धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का' जैसी हो जावेगी।

उनमें जो भी विचार-विमर्श हुआ था, उनमें वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे; पर उन्हें यह पता नहीं था कि लोगों तक आदेश पहुँच जाने पर भी उन पर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हो रही थी।

कुछ लोग तो सहज ही उदास थे। कुछ को उसकी प्रामाणिकता में संदेह था। जो लोग पालन भी करना चाहते थे, उनके पास उसके क्रियान्वयन का कोई रूप नहीं था। वे नहीं समझ पा रहे थे कि हम विवेक और विवेक के साथियों के विरुद्ध करें तो क्या करें ?

इसप्रकार उक्त आदेश के निष्प्रभावी हो जाने के मूल कारण तक तो वे पहुँच नहीं पाये और उसके प्रचार-प्रसार का जोरदार अभियान चलाने का संकल्प लेकर उसमें लग गए ।

इस अभियान में वे लोग जहाँ भी गये, जन-सामान्य द्वारा अनेक समस्यायें उनके सामने प्रस्तुत की गई, जिनका कोई समाधान उनके पास नहीं था। न तो वे यह बता सकते थे कि विवेकियों का बहिष्कार कैसे करें ? रोटी-बेटी व्यवहार बन्द करना तो इस युग में किसी का सम्भव नहीं है; क्योंकि खाना-पीना तो आज सभी का विधर्मियों के साथ भी चलने लगा है तथा शादी-विवाह के मामले में भी कौन सुनता है ? जब लड़के-लड़कियाँ अपने माँ-बाप की ही नहीं सुनते हैं, तब समाज की कौन सुने ? तथा बहिष्कार करने वालों के घरों में भी तो विधर्मियों की बेटियाँ बैठी थीं। वे सब किससे क्या कहते ?

मन्दिर बन्द करना भी सम्भव न था। आखिर बहिष्कार का रूप क्या हो ? यह कोई स्पष्ट नहीं कर पाया ।

जहाँ एक ओर वे लोग स्वयं तो कुछ कर नहीं पा रहे थे, दूसरी ओर आचार्यों के नाम से निकाले गये आदेश की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगना आरम्भ हो गया था। अब उन्हें जगह-जगह इस प्रश्न का भी जवाब देना पड़ रहा था, पर वे इस प्रश्न का भी सन्तोषजनक उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे।

धीरे-धीरे इस माँग ने जोर पकड़ लिया कि आदेश पर हस्ताक्षर करने वाले आचार्यों के हस्ताक्षरों को ब्लॉक के साथ-साथ प्रचारित किया जाए ।

इस माँग का वे क्या उत्तर देते ? सो चुप्पी साधकर बैठ गए । उनकी चुप्पी ने लोगों को और भी अधिक शंकाशील बना दिया और वे स्पष्टीकरण के लिए उन आचार्यों के पास पहुँचने लगे कि जिनके नाम से आदेश प्रचारित किया गया था ।

धीरे-धीरे सारे समाज के सामने सत्य प्रकट हो गया और अब उन्हें कहीं मुँह छिपाने को भी स्थान न था। वस्तुतः बात तो यह थी कि विवेक के विरोधियों के बहुत से साथियों तक को यह पता नहीं था कि इस आदेश में कुछ आचार्यों के हस्ताक्षर भी नकली हैं।

अन्ततोगत्वा इस पर विचार करने के लिए उनकी एक मीटिंग हुई।

जब सभी लोग इकट्ठे हो गए तो उनमें से एक बोला - "देखो तो समाज कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, आज वह आचार्यों की भी नहीं सुनती है।"

उसकी बात को काटते हुए दूसरा बोला - "ऐसी बात नहीं है, समाज क्या करे ? वह तो आचार्यों का बहुत सम्मान करती है, उनकी हर बात को मानना भी चाहती है, पर उसे यह तो बताया जाए कि आखिर वह करे क्या ? हम तो जहाँ-जहाँ गए, सभी ने हमारी बात ध्यान से सुनी। पर जब उन्होंने पूछा कि हम क्या करें, तो हमारे पास इसके अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं था कि विरोधियों का बहिष्कार करो, पर बहुत प्रयत्न करने पर भी हम यह नहीं बता पाए कि इसका प्रायोगिक रूप क्या हो ?"

उसका समाधान करता हुआ तीसरा बोला - "इसमें क्या था, बता देते कि समाज में प्रस्ताव पास कर लो, उसे अखबारों में भेज दो, मन्दिरों पर तख्तियाँ लगा दो।"

उसकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि बीच में ही चौथा बोला – "इससे भी क्या हो जाता ? यह सब भी तो केवल जबानी जमा-खर्च है ?"

बीच में ही पाँचवाँ बोला – "यह भी तो आसान नहीं है, जब सारा समाज हमारे साथ हो तब प्रस्ताव पास हो, तभी तख्तियाँ लगें।"

"जहाँ की समाज कब्जे में आ जावे, वहाँ तो कराओ।"

"दो-चार जगह करा देने से भी क्या हो जावेगा ? वे लोग तो जैसे पहिले अपने कार्यक्रम चलाते रहे हैं, वैसे ही ओर उससे भी तेज आज चला रहे हैं, हम लटकाये फिरें तख्तियाँ अपने गलों में और चाटते रहे प्रस्तावों को ।"

उनकी बात चल ही रही थी कि पीछे से एक आवाज आई –

"भाई ! तुम्हें उनके बहिष्कार की चिन्ता हो रही है, अब अपने बहिष्कार को बचाओ । कहीं ऐसा न हो कि हम दूसरे के वजीर का पीछा करने में लगे रहें और यहाँ हमारे बादशाह को मात खानी पड़े।"

उसकी बात को काटते हुए एक नेताजी तेजी में बोले –

"हमारा बहिष्कार कौन करेगा ? किसकी हिम्मत है, जो हमारा बहिष्कार करे, हम तो बहिष्कार करने वालों में है। समाज के इतिहास को उठाकर देख लो, जितने भी बहिष्कार हुए हैं, वे सब हमने ही किए। हमारा बहिष्कार करने वाला कोई पैदा ही नहीं हुआ आज तक।"

उनकी वीरता पर व्यंग्य करते हुए कोई बोला –

"सो तो है ही, पर अभी तो अभी की बात करो ।"

"अभी कौन कर रहा है, हमारा बहिष्कार ?"

"कर तो कोई नहीं रहा है, पर हो अवश्य रहा है ।"

"पहेलियाँ मत बुझाओ, सीधी बात करो । क्या बिना किए भी बहिष्कार हो सकता है ?"

"हो क्यों नहीं सकता ?"

"कैसे ?"

"ऐसे कि एक पंचायत में दस आदमी थे। उनमें से आठ ने मिलकर दो को अलग कर दिया। वे अलग बैठे। फिर इसीप्रकार छह ने मिलकर दो का

बहिष्कार और कर दिया। अब रहे छह तो उनमें से चार ने मिलकर दो का फिर कर दिया बहिष्कार - इसप्रकार बहिष्कृत लोग छह हो गए और अबहिष्कृत चार रह गए। बहिष्कृतों का बहुमत हो जाने से बहिष्कार करने वाले ही स्वयं बहिष्कृत हो गये।''

''इसका मतलब ?''

''यही कि आपने जीवनभर दूसरों का बहिष्कार किया है। अब वह समय आ गया है कि समाज का बहुमत उनका हो गया लगता है और हम सब बहिष्कृत-से हो गए लगते हैं।''

''यह कैसे हो सकता है ?''

''हो क्या सकता, हो रहा है।''

''आपने कैसे जाना ?''

''ऐसे कि अब अपनी बात का कोई विश्वास नहीं करता । समाज में जब जगह यही चर्चा है कि आचार्यों का आदेश नकली है। बहुत से आचार्यों को पता भी नहीं है कि उनके नाम से कोई आदेश निकला है। सुना तो यहाँ तक जा रहा है कि कई आचार्यों के पास लोग गए थे उनसे पूछने, पर उन्होंने साफ इन्कार कर दिया कि हमने कोई आदेश नहीं निकाला है।

इस बात का प्रचार बहुत जोरों से अन्दर ही अन्दर हो रहा है। अत: लोग-बाग अब अपन लोगों को शक की निगाह से देखने लगे हैं और उनकी सहानुभूति सहज ही विवेकियों से होती जा रही है। अब वह दिन दूर नहीं लगता कि जब बहिष्कार का सपना देखने वाले समाज की निगाह से स्वयं बहिष्कृत हो जावेंगे।

और सब बातें छोड़कर इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। अब प्रश्न आक्रमण का नहीं रहा, सुरक्षा का हो गया है।''

उसकी बात समाप्त भी न हो पाई थी कि एक बोला -

''इसमें किस बात की चिन्ता है। वे यही तो चाहते हैं कि आचार्यों के हस्ताक्षरों का ब्लॉक प्रकाशित कर दिया जाए। ब्लॉक प्रकाशित कर दो, सबका समाधान हो जावेगा। वैसे तो सब अपने साथ हैं ही।''

"पर ब्लॉक कहाँ से प्रकाशित कर दें ?"

"क्यों ? उसमें क्या दिक्कत है ? ब्लॉक बनवा लीजिए, खर्चा मैं दूँगा।"

"आप खर्चे की बात करते हैं, पर ब्लॉक बनवावें किसका ?"

"आचार्यों के आदेश का ?"

"पर वह है कहाँ ?"

"क्यों, क्या खो गया है ?"

"खो गया ही समझो ।"

"तो दुबारा करवा लो हस्ताक्षर ।"

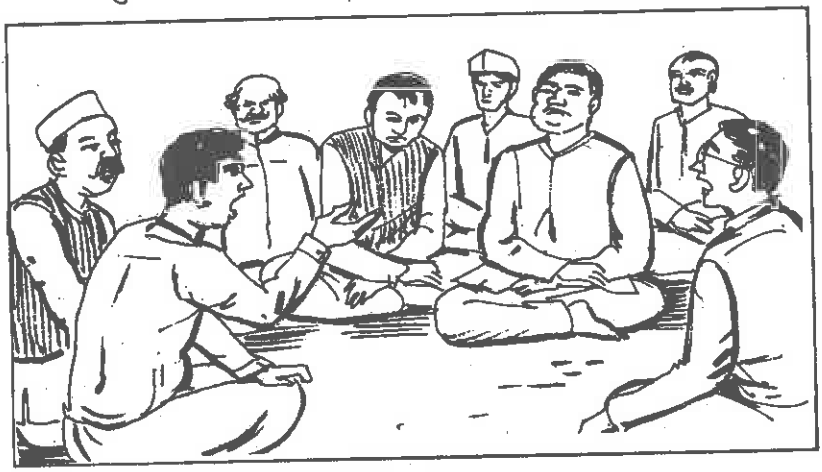

"दुबारा का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?"

उनकी चर्चा में कही बात खुल न जावे इस डर से बीच-बचाव करते एक प्रमुख व्यक्ति बोले - "सब बातें यहीं मीटिंग में करोगे, सबके सामने।"

पीछे से आवाज आई -"इसमें एकान्त में करने की क्या बात है?"

"क्यों नहीं है ?"

"इसलिए कि जब आचार्यों का आदेश जन-जन तक पहुँच गया है, तो उसमें छिपाने का क्या रहा ?"

"तुम नहीं समझ सकते।"

"हाँ-हाँ, समझदार तो एक आप ही हैं। सच्ची क्यों नहीं कह देते कि आचार्यों ने आदेश निकाला ही नहीं है, उनके नाम से आपने ही यह कमाल कर दिखाया है ?"

"कौन कहता है आचार्यों ने आदेश नहीं निकाला ? जिन आचार्यों के नाम से आदेश निकाला है, उनमें से कई के तो उस पर हस्ताक्षर भी हैं ।"

"क्या कहा, कई के हस्ताक्षर हैं । इसका मतलब तो यह हुआ कि सबके हस्ताक्षर नहीं है।"

"यही समझ लो।"

"तो यह बात है, तभी आप लोग ब्लॉक प्रकाशित करने की माँग पर चुप्पी साधे हैं ?"

इस पर जब मुख्य कर्त्ता-धर्त्ता चुप रह गए तो एक सज्जन से दिखने वाले बोले - "यह तो सरासर धोखा है।"

सफाई देते हुए एक बोला - "इसमें धोखा किस बात का है, क्या वे आचार्य हमारे साथ नहीं है ?"

"साथ हैं, इसका मतलब यह तो नहीं कि उनकी जानकारी बिना उनके नाम से आप चाहें जो कुछ छपवा दें।"

"चाहे जो कुछ क्यों ?"

यह बात जानकर कि आचार्यों के नाम से जो आदेश निकाला है उसमें भी गोलमाल है- वातावरण में उत्तेजना फैल गई। सभी लोग जोर-जोर से बोलने लगे । जिनमें थोड़ी-बहुत भी सज्जनता शेष थी, वे लोग भी उनसे अलग हो गये।

इस तरह सारा ही विवेक का विरोधी पक्ष छिन्न-भिन्न हो गया।

अब वह मीटिंग, मीटिंग न रह गई थी। लोग ग्रुपों में बँट-बँट कर बातें कर रहे थे। स्थिति काबू से बाहर होते देख मिटिंग समाप्ति की घोषणा कर दी गई और सब तितर-बितर हो गये। ●

३८

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष का तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्व वाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में सन्तुलित रहते हैं, अडिग रहते हैं।

आचार्यों के तथाकथित आदेश की विफलता एवं तज्जन्य विवेक के विरोधियों का आपस में ही टकराव - बिखराव देखकर जहाँ एक ओर विवेक के कुछ अनपढ़ साथियों में प्रसन्नता का कुछ अतिरेक दिखाई दे रहा था, उसे व्यक्त करने की आतुरता परिलक्षित हो रही थी; वहीं विवेक एकदम शान्त था।

जब विवेक के कुछ साथी उसकी जय के नारे लगाते हुए उसके घर पहुँचे तो उसने अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए उन्हें उसकी जय बोलने को मना किया और कहा - "अरे भाई ! क्यों पागल हुए जा रहे हो ? मेरी जय के नारे क्यों लगा रहे हो ? जय ही बोलनी है तो भगवान की बोलो।"

आगन्तुकों में से दो-चार एक साथ बोले — "आज विवेक की विजय हो गई है, अविवेक परास्त हो गया है। इसलिए हम आपकी नहीं, विवेक की जय बोल रहे हैं।"

"हो सकता है, तुम मेरी नहीं, विवेक की ही जय बोल रहे हो। पर प्रत्येक को यह कौन बताने जावेगा कि आप लोग मेरी नहीं, विवेक की जय बोल रहे हैं। अतः यही ठीक है कि ऐसा कोई काम नहीं किया जावे जिससे गलत परम्परा पड़े।"

"हम आपकी भी जय बोलें तो इसमें क्या गलत हो गया ? इसमें हानि क्या है ? जब हमें आपने सन्मार्ग दिखाया है तो ………… । लोग गाँधीजी की भी जय बोलते हैं।"

"हाँ, भाई ! बोलते तो हैं, गलत भी कुछ नहीं है, पर ………"

"पर क्या ?"

"यही कि इसमें हानि नहीं तो लाभ भी क्या है ?"

"हर काम लाभ के लिए ही नहीं किया जाता – कुछ काम प्रेम से, श्रद्धा से, भक्ति से भी किये जाते हैं। जिसने जिसके प्रति उपकार किया होता है, उसे उसके प्रति बहुमान का भाव आये बिना नहीं रहता – यह आपने ही तो बताया था।

"हाँ भाई ! बताया तो था, पर इसमें लाभ तो कुछ होने वाला है नहीं, उल्टी हानि की संभावना है । ऐसी भावुकता भी किस काम की, जिसमें लाभ तो न हो, उल्टी हानि उठानी पड़े ।"

"अच्छा लाभ नहीं तो इसमें हानि भी क्या है ?"

"यही कि जो आज तक सत्य का विरोध करते रहे हैं, उन्हें यदि आज सत्य समझ में आ रहा है और वे सत्य को समझने के लिए आपके नजदीक आ रहे हैं या आना चाहते हैं, उनका रास्ता बन्द होता है।"

"कैसे ?"

"ऐसे कि उनकी समझ में अभी सत्य तो आया नहीं है, मात्र सत्य को समझने की जिज्ञासा जगी है; अतः अभी उनमें सत्य के प्रति व मेरे प्रति भी इतनी श्रद्धा तो जगी नहीं है कि मेरी जय के नारे उन्हें बरदाश्त हो जावें, तथा कषाय भी इतनी मंद नहीं हुई है कि तत्त्व की उपलब्धि के लिए इसे वे गौण करके इसकी उपेक्षा कर सकें। अतः इन जय के नारों से – पास आते हुए ऐसे लोग सत्य से, तत्त्व से दूर हो जावेंगे। यदि आप चाहते हैं कि सारा जगत इस तत्त्व को समझे, तो हम ऐसा कोई काम न करें जिससे लोग हमारे पास आते हुए रुक जावें।"

"बात तो आप ठीक कहते हैं,पर…………"

"पर क्या ?"

"यही कि जब हमारे विरोधी कमजोर हो गये हैं, तो हमें उसका लाभ तो उठाना ही चाहिए, खुशियाँ मनाना चाहिए।"

"अरे भाई ! कैसी बातें करते हो, कौन किसका विरोधी है ? कोई किसी का शाश्वत विरोधी और मित्र नहीं होता। जो आज विरोधी लगता है, कल वही मित्र हो जाता है। जो मित्र है, उसे विरोधी होते क्या देर लगती है ? यह **सब तो राग-द्वेष का खेल है, मिथ्यात्व की महिमा है**; वैसे तो सभी आत्मा भगवानस्वरूप हैं। यह क्यों कहते हो कि विरोधी कमजोर हो गए हैं, यह कहो न कि उनका विरोध कमजोर हो गया है, अत: अब वे हमारे मित्र बन रहे हैं। हमें **विरोधियों को नहीं, विरोध को मिटाना है**। जब विरोध मिट जावेगा तो विरोधी ही मित्र बन जावेंगे। यह तो हमारा हल्कापन है, जो इस तरह सोचते हैं कि विरोधी कमजोर हो गये हैं।

और तुमने जो यह कहा कि इसका लाभ तो हमें उठाना ही चाहिए। सो लाभ तो अवश्य उठाना चाहिए, पर उनका मजाक उड़ाने का नाम तो लाभ उठाना नहीं है। अपितु उन्हें स्नेह से, प्रेम से अपने पास लाना, तत्त्व के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करना ही सच्चा लाभ उठाना है। चिढ़ाकर और दूर ढकेल देने में कौनसी बुद्धिमानी है और कौनसा लाभ है। उन्हें सन्मार्ग पर लगा देना ही सच्चा लाभ है। उनकी आत्मा का हित तो इसमें है ही, सामाजिक एकता हो जाने से समाज का भी लाभ है। झगड़े-टंटे नहीं होने से या कम हो जाने से आत्मार्थियों को सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि वे अब निर्विघ्नरूप से आत्म-साधना और तत्त्वाभ्यास कर सकते हैं, तत्त्वप्रचार की गतिविधियाँ भी निर्विघ्न चल सकती हैं।

सबको प्रेम से गले लगाने में ही सच्ची विजय है। **विरोधियों का बिखर जाना कोई विजय ही नहीं है, यह तो नकारात्मक पहलू है। विरोध का समाप्त हो जाना भी पूरी विजय नहीं है; अपितु सबका सत्य के प्रति, तत्त्व के प्रति प्रेम हो जाना ही सच्ची विजय होगी।**

"यह तो सब ठीक है, लेकिन"

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं । आध्यात्मिक लाभ के साथ-साथ सामाजिक लाभ भी इसमें ही है । समाज में एकता स्थापित हो जाना, कोई वैर-विरोध नहीं रहना ही सच्चा सामाजिक लाभ है ।

यह एक ऐसा अवसर आया है कि जब सत्य (सम्यक्तत्त्व) के साथ-साथ सामाजिक एकता का वातावरण बन रहा है - इसे अपनी नादानी और हल्केपन से यों ही नहीं समाप्त कर देना चाहिए ।

यहि तुम सच्चे आत्मार्थी हो और इतने दिनों में यदि मुझसे कुछ सीखा है तो इसप्रकार की कोई बात नहीं होनी चाहिए, जो समाज के ठण्डे वातावरण को फिर गर्म करदे, विषाक्त बनादे । खुशियाँ ही मनाना है तो इसप्रकार मनाओ कि जिससे अभी तक हमसे दूर रहे लोग भी हमारे समीप आवें, समीप आने में संकोच न करें ।

उन्हें प्रेम से बुलाओ, सम्मान से अपने बीच बिठाओ । यह उन्हें गले से लगाने का अवसर है, उनकी खिल्ली उड़ाने का नहीं ।"

"आपका उपकार हम कैसे भूल सकते हैं ? आपने हमें मुक्ति का मार्ग तो दिखाया ही है, बताया ही है, साथ ही सामाजिक एकता का मार्ग भी बताया है। आपने हमें संसार-सागर में डूबने से तो बचाया ही है, साथ ही विघटन के कगार पर पहुँचे समाज को भी विघटित होने से बचाया है, उसे संगठित करने का मार्ग भी सुझाया है ।"

वह अपनी बात पूरी ही न कर पाया था कि बीच में ही विवेक बोला -

"इस स्तुति की कोई आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता तो इस बात की है कि हम खुशियाँ मनाने के चक्कर में कही अपने ध्येय से विचलित न हो जावें, भटक न जावें । आध्यात्मिक शान्ति को, सामाजिक शान्ति को प्राप्त करने के मार्ग का यह एक पड़ाव ही है । अभी गन्तव्य नहीं आ गया है । कहीं तुम पड़ाव को ही गन्तव्य तो नहीं समझ रहे हो ?"

"नहीं तो ।"

"तो फिर खुशियाँ मनाने का विकल्प क्यों ? अब तो काम करने का अवसर आया है । क्रान्ति का वास्तविक लाभ तो शान्तिकाल में ही प्राप्त होता

है । क्रान्ति में तो एक उत्तेजना रहती है । उसमें कुछ सोचने का, समझने का अवसर ही कहाँ प्राप्त होता है । **क्रान्ति तो एक आँधी है, जो धूल उड़ाती आती है और सड़ी-गली पुरानी व्यवस्था उखाड़ती-पछाड़ती चली आती है । नई सही व्यवस्था तो शान्तिकाल में ही जमती है। यदि क्रान्ति से सच्चा लाभ लेना है, तो क्रान्ति के बाद सहज प्राप्त होने वाले शान्तिकाल का सही उपयोग कर लेना ही बुद्धिमानी है। क्रान्ति में हृदय-पक्ष की प्रधानता रहती है, भावना-पक्ष प्रधान रहता है, पर शान्तिकाल में बुद्धि की परीक्षा की घड़ी आती है। क्रान्ति विध्वंस करती है और शान्ति निर्माण।** अभी तो गलत परम्पराओं का विध्वंस ही हुआ है, अब सही परम्पराओं का निर्माण करने का काल है ।

यदि सड़ी-गली व्यवस्था के विध्वंस के बाद हम नई सही व्यवस्था स्थापित नहीं कर सके तो उस क्रान्ति से कोई लाभ नहीं, अपितु हानि ही होगी।

अतः सड़ी-गली व्यवस्था के विध्वंस करने वालों की यह जिम्मेदारी भी है कि वे नई व्यवस्था स्थापित करें। आज यह बहुत बड़ी जिम्मेदारी हमारे कन्धों पर है, हमें उसे अनुभव करना चाहिए। इन हल्के-फुल्के प्रदर्शनों में अपना समय खराब नहीं करना चाहिए।"

विवेक के बुद्धि की गहराई से आये गम्भीर विचारों को सुनकर सम्पूर्ण वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। यद्यपि प्रकटरूप से कोई कुछ न बोल रहा था, पर वे सब एक-दूसरे के चेहरों को देख रहे थे , आँखों ही आँखों में कुछ कह रहे थे। मुँह से कुछ भी कहने की हिम्मत किसी की भी नहीं हो रही थी, पर उनकी आँखें कुछ कह अवश्य रही थीं, जिसे विवेक स्पष्ट अनुभव कर रहा था।

अतः अत्यन्त स्नेह से वह कहने लगा – "क्या आप लोग कुछ कहना चाहते हैं ? यदि कहना चाहते हों तो ...."

विवेक की स्नेहपूर्ण बात सुनकर एक बोला – "कहना तो बहुत-कुछ चाहते हैं, पर अब कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।"

"क्यों ? इसमें हिम्मत की क्या बात है ? जो तुम्हें कहना हो प्रेम से कहो, संकोच न करो ।"

"क्या कहे ?"

"जो तुम कहना चाहते हो।"

"अब कहने को रह ही क्या गया है ?"

"क्यों, क्या हो गया ?"

"जब आप अपनी जय ही नहीं बोलने देते, आपकी प्रशंसा में कुछ कहें, वो सुनना ही पसन्द नहीं करते तो ·····।"

"तो क्या ?"

"कुछ नहीं ।"

"कुछ कैसे नहीं ? तुम जो कुछ कहना चाहते हो, निर्भय होकर कहो, मन की बात मन में न रखो । मन में रखी बात अधिक हानि करती है, तुम अपने मन की कह ही लो ।"

"बात यह थी कि हम लोग तो आपके पास इसलिए आये थे कि हम लोगों ने आपका विशाल पैमाने पर नागरिक-सामाजिक अभिनन्दन करने का विचार किया था और हम सब मिलकर उसकी अनुमति लेने आपके पास आये थे, पर जब आप ··············।"

"अरे भाई ! तुम तो अपने ही आदमी हो । क्या कोई अपने घर वालों का भी अभिनन्दन करता है? और फिर जब तुम्हारे हृदय में मेरा स्थान है, तो उससे बड़ा अभिनन्दन और क्या होगा ?"

"फिर भी।"

"फिर भी क्या ?"

"उसे व्यक्त करने का भी हमारा अधिकार है।"

"है, अवश्य है; पर मैं अपने को अभी अभिनन्दनीय नहीं मानता हूँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि अभिनन्दन के वास्तविक पात्र तो वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान ही हैं,जिन्होंने मोह-राग-द्वेष को पूर्ण जीत लिया और सर्वज्ञता प्राप्त करली है।"

"वे तो हैं ही, पर उनका स्वरूप बताने वाले भी तो....."

"हाँ, वे भी हैं, पर ...."

"पर क्या ?"

"यही कि जबतक मेरा संकल्प पूरा नहीं होता, तबतक.........."

"क्या संकल्प है आपका ?"

"अन्तिम तो पूर्ण सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त करना ही है, पर इस भव में भी जो कुछ मैंने पाया है, उसमें ही अधिक से अधिक रम सकूँ तथा सारे समाज तक उसके मर्म को पहुँचा दूँ - यही भावना है ।

तत्त्व की सत्य बात जन-जन तक पहुँचाने की भावना तो है ही, साथ ही समाज को संगठित करने का संकल्प भी मेरे मन में रहा है । जब सारा समाज एक हो जावेगा, कहीं कोई विरोध नहीं रहेगा, सभी सत्य के खोजी बनने की भावना से ओत-प्रोत होंगे, तब मुझे संतोष होगा।

जबतक समाज का एक भी बच्चा विरोध की बात करेगा । तबतक मैं कोई अभिनन्दन स्वीकार नहीं कर सकता।"

सभी एक साथ बोले - "धन्य है, धन्य है; आपकी भावना अभिनन्दनीय है।"

"अरे ! मैं मना कर रहा हूँ और आपने तो यहीं आरंभ कर दिया अभिनन्दन करना।" - कहते हुए विवेक अन्दर चला गया और सब लोग भी विवेक की महानता के गीत गाते-गाते अपने-अपने घर चले गये । ●

३१

किसी व्यक्ति का हृदय कितना ही पवित्र और विशाल क्यों न हो, किन्तु जबतक उसका कोई स्वरूप सामने नहीं आता, तबतक जगत उसकी पवित्रता और विशालता से परिचित नहीं हो पाता है। विशेषकर वे व्यक्ति जो किसी कारणवश उससे द्वेष रखते हों, तबतक उसकी महानता को स्वीकार नहीं कर पाते, जबतक कि उसका प्रबल प्रमाण उनके सामने प्रस्तुत न हो जावे। विरोध के कारण दूर रहने से छोटी-छोटी बातों में प्रगट होने वाली महानता तो उन तक पहुँच ही नहीं पाती है। जो कुछ पहुँचती भी है, वह तीव्र द्वेष में सहज स्वीकृत नहीं हो पाती है। यदि किन्हीं को कभी किसी कार्य को देखकर ऐसा लगता भी है तो पूर्वाग्रह के कारण समझ में नहीं आती। तथा यदि समझ में भी आवे तो - इसमें भी, कोई न कोई राजनीति होगी - यह समझकर यों ही उड़ा दी जाती है, क्योंकि उसकी बुद्धि तो उसके दोष-दर्शन में ही सतर्क रहती है।

किसी बनिए की दुकान पर कोई किसान पचास पैसे की अजवाइन लेने गया। भूल से अजवाइन में पचास पैसे का सिक्का भी आ गया। वह पूर्वाग्रहयुक्त भोला किसान सोचने लगा - 'अरे पचास पैसे भी वापिस आ गए और अजवाइन भी। आज तो बनिया ठगा गया है। पर ………. नहीं ……. नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। बनिया तो दूसरों को ठगता है, वह ठगाया नहीं जा सकता है; अवश्य उसने मुझे ही ठगा होगा।'

थोड़ी देर सोचने के बाद कहता है - 'हाँ आगया समझ में, बहुत बदमाश है बनिया, उसने पचास पैसे के सिक्के को अजवाइन में ही तो तोल कर दिया है - इसप्रकार इस सिक्के के बराबर अजवाइन कम देकर मुझे ठग लिया है।'

पूर्वाग्रह से युक्त होने के कारण मुफ्त में प्राप्त अजवाइन में भी 'बनिया द्वारा ठग लिया गया हूँ' की प्रतीति के समान ही विरोधी लोग महान व्यक्ति के प्रत्येक भले काम में कुछ न कुछ राजनीतिज्ञ चालबाजी ही खोजा करते हैं।

इसीप्रकार यद्यपि विवेक की महानता अनेक अवसरों पर व्यक्त हुई थी, तथापि विवेक के विरोधियों को उसमें राजनैतिक धूर्तता ही दिखाई दी थी ; किन्तु जब आज पता चला कि विवेक के साथी उसकी जय के नारे लगाते हुए उसके घर पहुँचे तो उसने उन्हें ऐसा करने से मना ही नहीं किया, अपितु उन्हें इसके लिए डाँटा-फटकारा भी । वे सब उसका अभिनन्दन करने की अनुमति लेने गए थे, पर उसने साफ-साफ इन्कार कर दिया । वे लोग परास्त विरोधियों के जले पर नमक छिड़कने के लिए प्रदर्शन करना चाहते थे, पर उसने इसे अनुचित ही नहीं बताया, अपितु उन्हें स्नेह से गले लगाने का आदेश दिया।

उसने साफ-साफ कहा - "**हमें विरोधियों को नहीं, विरोध समाप्त करना है।** अरे भाई ! अज्ञान के कारण जो अभी तक तत्त्व का- सत्य का विरोध करते थे, वे सब भूले-भटके हमारे भाई ही तो हैं । आज यदि उन्हें समझ आ रही है, उनका भ्रम भंग हो गया है, तो हमें गले लगाकर उनका स्वागत करना चाहिए। हम भी तो एक दिन भ्रम में थे।

हमारे भूले-भटके भाई राह पर आ गए हैं - इसमें खुशी की बात तो है, पर विजय कैसी और किस पर ? कहीं अपनों के साथ भी जीत-हार होती है । जीत-हार तो शत्रुओं के साथ युद्ध में होती है । यहाँ शत्रु थे ही कहाँ और युद्ध भी कहाँ था ? यहाँ तो घर वाले ही दिग्भ्रमित हो गए थे। बस उन्हें समझने-समझाने की समस्या थी, जो आज बहुत-कुछ हल हो गई है। इस बात की खुशी तो मुझे भी है, पर ...."

आग के समान द्रुतगति से फैले इस समाचार ने रहा-सहा विरोध और संकोच भी समाप्त कर दिया। अब लोगों के झुण्ड के झुण्ड विवेक के मिशन में शामिल हो रहे थे।

बहुत से लोग ऐसे भी थे - जो यह समझ तो गये थे कि विवेक का पक्ष ही सही है, सामने वाले तो यों ही उसके व्यक्तित्व से जलते हैं और अपने स्वार्थों के कारण सच्चे-झूठे हथकण्डे अपनाकर उसके विरुद्ध जनता को व्यर्थ ही बरगलाते हैं; पर उन्हें यह संकोच था कि अबतक तो विवेक का विरोध करते आ रहे हैं, अब किस मुँह से उसके पास जावें।

आज उन सबका संकोच दूर हो गया था और वे सब सच्चे दिल से विवेक के साथ हो गये थे। पर जो लोग जान-बूझ पर विरोध कर रहे थे - उन्हें भी अब कोई ठिकाना न रहा था। अतः उन्होंने भी बहुमत के साथ रहना ही उचित समझकर विवेक के मिशन में शामिल होने में ही सार समझा।

इसप्रकार सामाजिक विरोध एक प्रकार से शान्त-सा ही हो गया था। घर-घर यही चर्चा हो रही थी कि साँच को आँच नहीं, काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती, झूठ का पर्दाफाश कभी न कभी होता ही है। सत्य के प्रगट होने में देर भले ही हो, पर अन्धेर नहीं हो सकता।

अभी तक तो विवेक के अनुयायियों और विरोधियों की अपनी-अपनी रीति-नीति तय करने एवं उनके क्रियान्वयन के कार्यक्रम बनाने के लिए अलग-अलग मीटिंगें हुआ करती थीं, पर अब उन सबकी मीटिंग एक साथ हुई; क्योंकि अब कोई किसी का विरोधी न रह गया था। समाज के प्रमुख व्यक्ति भी, जो अभी तक तटस्थ थे, उसमें शामिल हुए ।

इस मीटिंग में प्रायः सभी पक्षों के प्रवक्ताओं ने आज की सामाजिक एकता पर प्रसन्नता व्यक्त की और इसके लिए विवेक के प्रयत्नों की सराहना की। इसप्रकार की सामाजिक मीटिंगों में न तो विवेक पहले भी कभी सम्मिलित होता था और न आज ही वह आया था।

तात्त्विक-सत्य के प्रचार-प्रसार और सामाजिक एकता के इस महान कार्य को जिस पैनी सूझ-बूझ और धैर्य से विवेक ने सम्पन्न किया था - आज की मिटिंग में सभी इसकी मुक्तकण्ठ से सराहना कर रहे थे, उसके दूरदर्शी दृष्टिकोण के सभी कायल थे। सर्वाधिक प्रशंसा तो उसके हृदय की पवित्रता और विशालता की हो रही थी, जिसमें कि वह सभी को एकसाथ ले चलने की ही भावना संजोये था और किसी के प्रति भी कोई दुर्भावना उसके मन में न थी।

जब एक ने कहा कि - "विवेक ने मात्र त्रैकालिक सत्य की ही खोज नहीं की, अपितु वर्त्तमान पर्यायगत सत्य को भी खोजा; यहाँ तक कि सामाजिक एकता भी सामाजिक जीवन का परम सत्य है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है - यह भी खोज निकाला ।"

तब दूसरा कहने लगा – "भाई साहब ! मात्र खोज ही नहीं निकाला, अपितु उसका प्रायोगिकरूप भी प्रस्तुत कर दिया। उसी का परिणाम है कि आज हम सब एक मंच पर उपस्थित हैं ।"

तीसरा कहने लगा – "एक मंच पर तो हम कई बार पहिले भी उपस्थित हुए हैं, पर हमेशा अखाड़े की मुद्रा में उपस्थित रहते थे – इतने प्रेम से कभी हमारी मीटिंग नहीं चल पाई। वही खींचतान, आलोचना-प्रत्यालोचना, होहल्ला ही हमारी मीटिंगों की नियति बन गई थी। मीटिंग में आकर सभी दाव-पेंच खेला करते थे। कभी कोई व्यक्ति अपने उत्तरदायित्त्व के प्रति गम्भीर नहीं देखा जाता था।

आज की उपलब्धि एक मंच पर मात्र उपस्थिति नहीं है, अपितु प्रेमपूर्ण उपस्थिति है, निश्छल उपस्थिति है। समाज के लिए विवेक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन यह है ।"

चौथा बोला – " आप ठीक कहते हैं ।"

पाँचवाँ बोला – "ठीक तो कहते ही हैं, पर हमारा कुछ कर्त्तव्य भी है। जिस सामाजिक **एकता के लिए हम वर्षों प्रयत्नशील रहे, जिसके लिए हमने पंचायत गठित की, प्रजातान्त्रिक पद्धति से उसके चुनाव कराये – पर प्राप्त नहीं कर पाये और अधिक दल-दल में उलझते गये, पार्टी बन्दियाँ खड़ी हो गईं, ग्रुप बन गये। इसके लिए हम धर्मनिरपेक्ष बने, पर एकता हाथ न लगी । धर्मनिरपेक्ष बनने से हम धर्म से तो दूर हो गये, पर उसकी कीमत पर भी एकता नहीं ला सके।** पर आज विवेक ने धर्म के मर्म को कायम रखकर ही नहीं, प्रस्तुत करके भी एकता स्थापित कर दी – यह कोई साधारण बात नहीं है । कहते हैं – सामाजिक विघटन की दशा देख कर दुःखी होते हुए एक दिन विवेक ने कहा था –

'धर्म के नाम पर न तो मैं समाज को विघटित होते देख सकता हूँ और न मुझ से धर्म की कीमत पर संगठन ही होगा । मैं धर्म को कायम रखकर समाज को संगठित करूंगा और समाज को संगठित रखकर धर्म को उसके सामने प्रस्तुत करूँगा — यह मेरा संकल्प है ।'

आज उसका संकल्प कुछ अंशों में ही सही पूरा हो गया लगता है''

छठवाँ बोला - ''लगता क्या है ? हो गया है । पर आपने कहा है कि हमारा भी कुछ कर्त्तव्य है - यह कहकर आप क्या कहना चाहते हैं? मैं तो समझता हूँ कि अब तो हमारा बस यही कर्त्तव्य है कि हम सब विवेक से अनुशासित हों, उसके मार्गदर्शन में चलें ।''

''यह तो है ही, पर ....''

''पर क्या ?''

''यही कि हमें विवेक के प्रति अपनी कृतज्ञता का भी ज्ञापन करना चाहिए।''

सभी एक साथ बोले - ''क्यों नहीं ? अवश्य करना चाहिए।''

उनमें से एक बोला - '' करना तो चाहिए ही - इसमें कोई दो मत नहीं है, पर कुछ रूपरेखा तो हो । किस रूप में क्या करना चाहिए ? -यदि आपके दिमाग में कोई योजना हो तो सबके सामने रखिए । विचार-विमर्श के बाद आज तय ही हो जाएगा ।''

''हाँ है ।''

''तो बताइए न ?''

''हमें सम्पूर्ण समाज की ओर से विवेक का नागरिक अभिनन्दन करना चाहिए और उसे समाजरत्न की उपाधि से विभूषित करना चाहिए ।''

बीच में ही दूसरा बोला - ''समाजरत्न ही क्यों ? धर्मरत्न क्यों नहीं ? वे धर्मरत्न पहिले हैं, समाजरत्न बाद में। उन्होंने धर्म के सत्य स्वरूप को मात्र खोजा ही नहीं, पाया

ही नहीं; अपितु दिल खोल बाँटा भी है, समझाया भी है। धर्म का स्थान उनकी दृष्टि में पहला है और समाज का दूसरा, अतः वे धर्मरत्न पहले हैं और समाजरत्न बाद में ।"

"हाँ, यह बात तो है पर ...."

"पर क्या ?"

"यही कि हम समाज की ओर से उनका अभिनन्दन कर रहे हैं, अतः मेरी दृष्टि में समाजरत्न की उपाधि देना ही अधिक उपयुक्त है ।"

"अच्छा, तो धर्मरत्न की उपाधि उन्हें धर्म आकर देगा । अरे भाई ! उपाधि तो समाज ही देता है- चाहे समाजरत्न की दे या धर्मरत्न की ।"

"तुम तो बहस करते हो ।"

"तुम्हारी बात कट गई तो हम बहस करते हैं ।"

"कौन काट सकता है मेरी बात ....? किसकी हिम्मत है........"

"आप हिम्मत की बात न करिए"

बात ही बात में वातावरण गर्म होने लगा । वे पुराने लड़ाकू-खिलाड़ी जो थे, सो लड़ने लगे इसी बात पर।

वातावरण को ठीक बनाये रखने के उद्देश्य से बीच में ही टोकते हुए विवेक का एक पुराना अनुयायी बोला -

"भाई लड़ते क्यों हो ? वे तो अभिनन्दन स्वीकार करने वाले ही नहीं हैं। हम लोगों ने एक बार कोशिश कर ली है, पर वे टस से मस नहीं हुए।"

"आपने करली होगी, आप सफल नहीं हुए तो क्या हम भी न होंगे - यह आपने कैसे जान लिया ? हम आप जैसे ठण्डे लोग थोड़े ही हैं।"

"आप भी जब विवेक के साथ रहोगे, उनकी तत्त्वचर्चा सुनोगे तो हम जैसे ही ठण्डे हो जावोगे।"

"जब हो जावेंगे, तब हो जावेंगे, अभी तो नहीं हुए । हम उनसे मनवाकर ही रहेंगे। क्या वे हमारी इतनी-सी बात ही न मानेंगे, जबकि हम उनकी सब बातें मानने को तैयार हैं ? हमारी यह बात उन्हें माननी ही पड़ेगी।"

"मान लेंगे तो हमें आपसे भी अधिक खुशी होगी पर.............."

"अच्छा, आप बताइये कि उन्होंने अभिनन्दन की बात क्यों नहीं मानी थी, क्या कहा था ?"

"यही कि जबतक मेरा संकल्प पूरा नहीं हो जाता, तबतक मैं कोई अभिनन्दन स्वीकार न करूंगा।"

"क्या था उनका संकल्प ?"

"सारे समाज को संगठित करना और तत्त्व की बात उन तक पहुँचाना।"

"तो हो गया न उनका संकल्प पूरा – समाज तो संगठित हो ही गया है, बताइये न कौन है अब विरोधी ? रही बात तत्त्व की बात उन तक पहुँचाने की; सो वह तो धीरे-धीरे अब होगी ही ।"

"आपका तर्क तो अच्छा है, वे मानलें तो बहुत खुशी की बात होगी।"

"मानेंगे क्यों नहीं, आप तो तय करिए की उन्हें धर्मरत्न की उपाधि देना है या समाजरत्न की ।"

"अभी क्यों झगड़ते हो, जब वे मान लेंगे, तब ही यह तय करेंगे ।"

"तब क्यों ? अभी करो न ।"

पीछे बैठे एक गम्भीर से व्यक्ति बोले – "भाई, उन्हें मनाओ तो ! इस पर क्यों झगड़ते हो ? दोनों ही दे देंगे – धर्मरत्न और समाजरत्न । काम तो उन्होंने दोनों ही किए हैं ।"

सभी एक साथ बोले – "हाँ, यह ठीक है ।"

पर मजाक करते हुए एक ने कहा – "क्या ठीक है, अब ये लड़ेंगे किस बात पर ?"

वे बोले – "आप चिन्ता न करो, लड़ने के लिये भी हम कुछ न कुछ बात निकाल ही लेंगे।"

इसप्रकार प्रसन्नता के वातावरण में मीटिंग समाप्त हो गई। ●

४०

किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए शान्ति और प्रेम का रास्ता यद्यपि लम्बा रास्ता है, इसमें प्रतिद्वन्द्वी को नहीं, उसके हृदय को जीतना पड़ता है, जीत कर उसे समाप्त नहीं किया जाता, अपितु अपना बनाया जाता है; तथापि टिकाऊ और वास्तविक सफलता प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यही है । इसमें असीम धैर्य की आवश्यकता होती है। साधारण व्यक्ति में तो इतना धैर्य होता ही नहीं कि वह इतनी प्रतीक्षा कर सके - यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों द्वारा महान कार्य सम्पन्न नहीं हो पाते ।

साधारण लोगों के हृदय में एक तो महान कार्य करने की भावना ही नहीं होती है; क्योंकि उनकी उन्नति की परिभाषा ही निजी आर्थिक उन्नति ही होती है । खाने-पीने, मौज उड़ाने तक ही उनकी प्रगति की मर्यादा रहती है । दूसरे यदि कदाचित् किसी को महान् कार्य सम्पन्न करने की भावना हो तो उसके मूल में नाम का लोभ, यश का लोभ काम करता दिखाई देता है; और यही लोभ उसकी सफलता में बाधा बनकर खड़ा हो जाता है । किन्तु यश के लोभ से दूर रहने वाले महापुरुष अपनी दूरदृष्टि के कारण बड़े ही धैर्य से अपने लक्ष्य की पूर्ति में जुटे रहते हैं, राह में आने वाली बाधाओं से विचलित नहीं होते, निराश भी नहीं होते ।

साध्य की पवित्रता की भाँति वे साधन की पवित्रता में भी विश्वास रखते हैं । यही कारण है कि वे पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति पवित्र साधनों से ही करना चाहते हैं । मात्र चाहते नहीं, अपितु करते हैं ।

विवेक ने भी अपने पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति पवित्र साधनों से ही की थी, रास्ते में आई विघ्न-बाधाओं को बड़े ही धैर्य से पार किया था, उग्र से उग्र स्थिति में शान्ति से काम लिया था तथा विरोधियों के हृदयों को प्रेम से जीता था।

सम्पूर्ण समाज को बिना किसी विवाद के एक मंच पर देखकर वह आज बहुत ही प्रसन्न था। इस दिन को देखने के अरमान न मालूम कब से उसके दिल में थे, जोकि कुछ अंशों में ही सही, आज पूरे होते दिखाई दे रहे थे ।

अनेक धार्मिक और सामूहिक मूढ़ताओं से युक्त, रूढ़ियों में उलझे और विखण्डित समाज के स्थान पर रूढ़िमुक्त और संगठित समाज का जो सपना उसने अपने मन में संजो रखा था, वह आज साकार होता दिखाई दे रहा था।

यही कारण है कि जब समाज के प्रतिनिधियों ने उसे मुख्य अतिथि के रूप में समाज की उस मीटिंग में आमन्त्रित किया, जिसमें कि सम्पूर्ण समाज बिना किसी भेदभाव के, बिना किसी वैर-विरोध के उपस्थित होने वाला था, तो उसने सहज ही स्वीकार कर लिया; किन्तु मीटिंग की कार्यवाही आरम्भ होने पर जब उसे पता चला कि इस मीटिंग में समाज उसका अभिनन्दन करना चाहती है तो यद्यपि उसने अप्रसन्नता व्यक्त की; तथापि समाज के आग्रह पर वह नीची गर्दन किए निर्लिप्त भाव से बैठा रहा।

सभा का आरम्भ करते संचालक महोदय बोले -

"संगठन के लिए एक ऐसा व्यक्तित्व चाहिए जो सबको साथ लेकर चल सके और जिसके व्यक्तित्व पर लोग संगठित हो सकें । इसके बिना समाज को संगठित करने का हम जितना प्रयत्न करते हैं, समाज उतना ही विघटित होता चला जाता है । हमने स्वतंत्रता की लड़ाई में इसका स्पष्ट अनुभव किया है । यदि गांधीजी का चुम्बकीय व्यक्तित्व हमारे सामने नहीं होता तो हम न तो संगठित ही हो पाते और न स्वतंत्रता की लड़ाई ही लड़ पाते ।

हमारे समाज की भी यही स्थिति थी। हमने लाख प्रयत्न किए, पर सम्पूर्ण समाज को एक मंच पर नहीं ला पाये। ज्यों-ज्यों इसे संगठित करने का हम यत्न करते, त्यों-त्यों यह समाज विघटित होता चला जाता, ग्रुपों में विभक्त होता चला जाता। हमारे पास ऐसा कोई चुम्बकीय व्यक्तित्व नहीं था, जिसके आधार पर हम संगठित होते। विवेक के रूप में आज हमें एक ऐसा व्यक्तित्व प्राप्त हो गया है, जिसके आधार पर हम संगठित हो सके हैं। वास्तव में विवेक हमारी समाज के

रत्न हैं, यह उनके कार्यों ने सिद्ध कर दिया है । अतः मैं समाज की ओर से उन्हें 'समाजरत्न' की उपाधि से विभूषित करने का प्रस्ताव करता हूँ।

उनके समर्थन में खड़े दूसरे व्यक्ति बोले – "विवेक बाबू वास्तव में हमारी समाज के रत्न हैं, अतः मेरे प्रिय बन्धु ने उन्हें समाजरत्न की उपाधि से विभूषित करने का जो प्रस्ताव रखा है; उसका तो मैं हार्दिक समर्थन करता ही हूँ, किन्तु एक बात और कहना चाहता हूँ ।

विवेक का जीवन मूलतः आध्यात्मिक जीवन है । विवेक ने अपने जीवन में स्व-पर विवेक को मुख्य स्थान ही नहीं दिया, अपितु स्व और पर में विवेक करके पर से भिन्न निज को जाना है, माना है, अनुभव किया है । अतः वे धर्मरत्न पहिले हैं, समाजरत्न बाद में। अतः उनको 'धर्मरत्न' की उपाधि से भी विभूषित किया जाना चाहिए ।"

उनकी बात पूरी होते ही तीसरे बोले – "भाई! इस भारत की मिट्टी में यह विशेषता है कि यहाँ बिना अध्यात्म के संगठन बन ही नहीं पाता है । यदि गांधीजी के जीवन में अध्यात्म न होता तो हो सकता है वे भी देश को संगठित न कर पाते। गांधीजी स्वयं सत्य को ईश्वर मानकर चलते थे और अहिंसा को उसकी प्राप्ति का उपाय मानते थे। उन्होंने सत्य को साध्य के रूप में अपनाया था; तभी उन्हें देश को संगठित करने में सफलता प्राप्त हुई। जब वे महात्मा बने, तब उनके पीछे सारा देश खडा हुआ।

इसीप्रकार अपने जीवन में विवेक भी सत्य के खोजी, उपासक और साधक रहे हैं; सत्य ही उनका साध्य है, शान्ति और प्रेम को तो उन्होंने साधन के रूप में अपनाया है। आज वे भी हमारे सामने महान आत्मा के रूप में उपस्थित हैं, तभी हम सब एक होकर आज उनके पीछे खड़े हैं। भारत में धर्मरत्न ही समाजरत्न होते हैं। अतः समाजरत्न और धर्मरत्न में कोई अन्तर नहीं है। हमारे संगठन का आधार ही धर्म है, अन्यथा विभिन्न जातियों के, विभिन्न वर्गों के, विभिन्न प्रान्तों के लोग किस आधार पर संगठित होते ? धर्म-विहीन समाज संगठित नहीं रह सकता है।"

बीच में ही एक बोला- "झगड़े भी तो धर्म के नाम पर कम नहीं होते।"

उसका समाधान करते हुए वे बोले - "भाई ! यह धर्म का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि लोग उसके नाम पर लड़ते हैं। धर्म तो कभी लड़ना नहीं सिखाता, पर लोग अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु धर्म के नाम पर लड़ते हैं। लड़ाती कषाय है, स्वार्थ है; और बदनाम धर्म होता है। धर्म लड़ने का नाम नहीं, नहीं लड़ने का नाम है।"

जब उनकी बात समाप्त हुई तो और भी लोग बोलने को उत्सुक दिखाई दियें, पर अध्यक्ष महोदय ने कहा -

"मैं सबकी भावनाओं को जानता हूँ, पर सबको बोलने का अवसर देना सम्भव नहीं है; अतः अब समाज की ओर से विवेक की सेवा में प्रस्तुत किया जाने वाला अभिनन्दन-पत्र मैं पढ़कर सुनाता हूँ, आप सब उसकी अनुमोदना करें।"

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच जो अभिनन्दन-पत्र अध्यक्ष महोदय ने पढ़कर सुनाया, उसमें विवेक को समाजरत्न, धर्मरत्न, सत्यान्वेषक, सन्मार्गदर्शक, आत्मानुभवी आदि अनेक विशेषणों से संबोधित किया गया था।

जब वह अभिनन्दन-पत्र विवेक को समर्पित किया गया तो गद्‌गद्‌ विवेक ने उसे हाथ भी नहीं लगाया और उक्त संदर्भ में जो भावनायें व्यक्त कीं, उनका भाव कुछ इसप्रकार था -

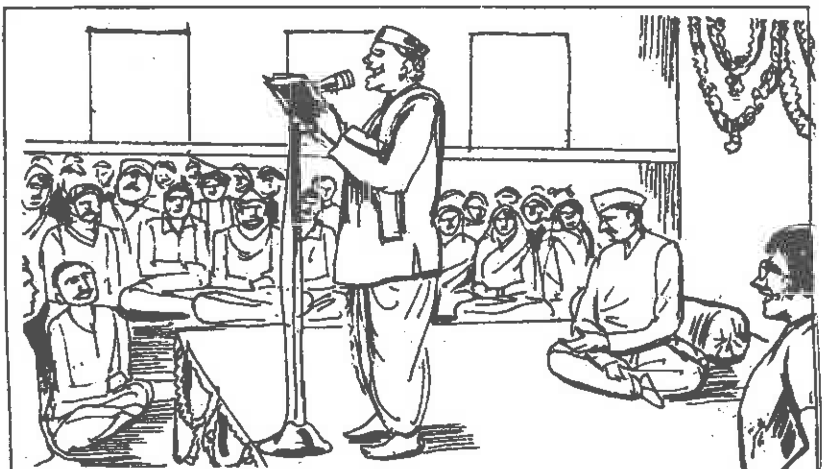

"आप सबने मेरे प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया, मैं उसके लिए आप सबका आभारी हूँ। किन्तु आप सबने जो अभी मेरे बारे में बहुत कुछ कहा, उसके सम्बन्ध में मैं आपसे क्या कहूँ ? मैंने समाज के लिए किया ही क्या है ? समाज अपने सद्भाग्य से स्वयं संगठित हो गया है, मेरी भावना तो उसमें निमित्तमात्र है। मैंने समाज को संगठित करने की भावना के अतिरिक्त किया ही क्या है? भावना का भी वास्तविक कर्त्ता मैं कहाँ हूँ ? वह भी तो अपनी योग्यातानुसार स्वयं सहज हुई है।

रही धर्म की बात, सो धर्म एकदम व्यक्तिगत चीज है । समस्त परपदार्थों और रागादि भावों से भिन्न निजात्मा को जानना, मानना और अनुभवना स्वयं का स्वयं से ही होता है। उसमें तो आदान-प्रदान की कोई स्थिति ही नहीं है। फिर भी ज्ञानी को रागात्मक भूमिका में वस्तु का सच्चा स्वरूप जन-जन तक पहुँचाने का भाव आए बिना रहता नहीं है। सो मुझे भी यह भाव बना ही रहा कि जो सत्य मैंने पाया है, वह सभी को प्राप्त हो। इसी भावना के वशीभूत जो हो गया है, सहज हो गया है, मैंने उसमें कुछ भी नहीं किया है। जो कुछ अन्दर-बाहर घटित हुआ है, मैं तो उसका जानने-देखने वाला ज्ञाता-दृष्टा ही रहा हूँ।

वस्तुस्वरूप के क्रमबद्धपरिणमन में जो कुछ घटित होना था, सब-कुछ सहज घटित हुआ है और होगा। उसमें किसी को भी अहंकार करने की आवश्यकता नहीं है, अधिकार भी नहीं है।

आध्यात्मिक परमसत्य की, पर्यायगत सत्य की, सामाजिक संगठन प्रक्रिया संबंधी सत्य की जो शोध-खोज हम सबके द्वारा आज सहज सम्पन्न हुई है, हमें उसका पूरा-पूरा लाभ लेने का यत्न करना चाहिए।

सभी को सत्य की प्राप्ति हो गई हो- यह बात भी नहीं है । पर सत्य को पाने की, खोजने की, ईमानदारी से समझने की तमन्ना अवश्य उत्पन्न हो गई है। जब सत्य की खोज की रुचि जग गई है, तो एक न एक दिन सत्य की प्राप्ति भी होगी ही।

जिसको मात्र रुचि जगी है, उसे सत्य को खोजना है; जिसे मिल गया है, उसे पाना है, उसी में समा जाना है, उसीरूप हो जाना है - इसके बिना पूर्ण शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

सामाजिक संगठन के सत्य की भी अभी तो हमने एक झलक ही देखी है, वास्तविक लाभ तो संगठन की स्थिरता में प्राप्त होगा। संगठित होने मात्र से काम नहीं चलेगा, हमें संगठन कायम रखना होगा। और मात्र संगठन ही तो एक साध्य नहीं है, संगठन तो सामाजिक उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जबतक संगठन के माध्यम से हम सामाजिक सुधार और उन्नति के कुछ काम नहीं करेंगे तबतक संगठन की प्रप्ति का वास्तविक लाभ भी नहीं उठा सकेंगे।

सामाजिक संगठन और शान्ति बनाए रखना और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त प्रगतिशील समाज की स्थापना ही तो इस बहुमूल्य नरभव की सार्थकता नहीं है; इस मानव जीवन में तो आध्यात्मिक सत्य को खोजकर, पाकर, आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना ही वास्तविक कर्त्तव्य है।

आध्यात्मिक सत्य में भी पर्यायगत सत्य को जानना तो है, पर उसमें उलझना नहीं है, उसे तो मात्र जानना है; पर त्रैकालिक परमसत्य को, परमतत्त्व को मात्र खोजना ही नहीं है, जानना भी है, उसी में जमना है, रमना है, उसी में समा जाना है, उसीरूप हो जाना है।

भाई ! अनन्तशान्ति और सुख प्राप्त करने का तो एकमात्र यही मार्ग है। अतः मेरी तो यही भावना है कि आध्यात्मिक परमसत्य, त्रैकालिक परमतत्त्व, ज्ञानानन्दस्वभावी, ध्रुव, आत्मतत्त्व - जिन्हें खोजना है, वे खोजें; जानना है, वे जानें; पाना है, वे पावें । जिन्होंने खोज लिया हो, पा लिया हो; वे उसी में जम जावें, रम जावें, समा जावें और अनन्त सुखी हों, शान्त हों।

अन्त में इस पवित्र भावना के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ।''

विवेक बोले जा रहे थे और सभी एकदम शान्त एवं मंत्रमुग्ध से सुने जा रहे थे। जब एकदम उनका वक्तव्य समाप्त हुआ तो सब स्तम्भित रह गए, चित्राम की भाँति बैठे रहे, उनकी ओर मेंढे की भांति टकटकी लगाकर देखते रहे, देखते ही रहे।

यद्यपि विवेक का व्याख्यान समाप्त हो गया था, पर सबके कानों में ये शब्द अभी भी गूँज रहे थे कि - उस परमसत्य को, परमतत्त्व को खोजो ········ जानो, ·········· प्राप्त करो, ·········· उसी में जमो, ·········· रमो, ·········· उसीरूप हो जावो ············।

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं समीक्षक विद्वानों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

• जैन संदेश (साप्ताहिक) मथुरा; २ फरवरी, १९७८

प्रस्तुत कृति में एक स्वस्थ मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की है। विद्वान् लेखक ने एक कथानक के रूप में इतनी सुन्दर शिक्षाप्रद पुस्तक लिखी है कि उसे पढ़ने में उपन्यास का आनन्द आता है; किन्तु पाठक की मोहनिद्रा दूर होती है। विवेक अपनी पत्नी रूपमती की रूढ़िग्रस्त विचारधारा को किसप्रकार बदलता है और उसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का बोध कराता है; यह इस पुस्तक को पढ़कर आप न केवल जान सकेंगे, किन्तु अपनी श्रद्धा को भी तदनुकूल बना सकेंगे। **आज के प्रत्येक बालक-बालिका को यह पुस्तक पढ़ने के लिए दीजिए। वितरण कीजिए।** इस समयोपयोगी आवश्यक लेखन के लिए डॉ०भारिल्ल बधाई के पात्र हैं। आज इसप्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता है । **— पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री**

• वीर-वाणी (पाक्षिक) जयपुर; १८ जनवरी, १९७८

प्रस्तुत पुस्तक एक उपन्यास के रूप में है । लेखक का उद्देश्य क्रियाकाण्डों से दूर हटाकर समाज को अध्यात्म की ओर ले जाना है, जिसके लिए कथानक के हर संवाद में जोर दिया गया है। यह मात्र उपन्यास ही नहीं; उपन्यास के माध्यम से अध्यात्म, तत्त्वचर्चा और वीतरागता की ओर ले जाना लेखक का उद्देश्य है। पुस्तक की भाषा में प्रवाह, शैली और भावाभिव्यक्ति रुचिपूर्ण ढंग से है, जिससे पाठक आकर्षित होता है। लेखक अपने प्रयास में सफल हुआ है।

— भँवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर

• वीर (पाक्षिक) मेरठ; १ नवम्बर, १९७७

युवाजन को धार्मिक ग्रंथों के पढ़ने में रुचि हो इसलिए जैनदर्शन के मूल तत्त्वों को सरल भाषा में प्रस्तुत करके एक ऐसा ग्रंथ तैयार करने में सफलता पाई है । ग्रंथ की शैली इतनी आकर्षक है कि एक बार आरम्भ करके उसे पूरा पढ़ने की रुचि स्वयं ही जागृत हो जाती है । पुस्तिका को पढ़कर अल्पबुद्धि वाले लोग भी वस्तु-स्वरूप को समझकर अपनी भ्रमपूर्ण मान्याताओं को सहज ही दूर कर सकते हैं ।

• जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) विदिशा; १६ अक्टूबर, १९७७

जैन साहित्य के क्रांतिकारी लेखक डॉ० भारिल्ल की प्रतिभा भारत के चतुर्कोणों में अपनी मौलिकता के कारण सर्वविदित हो चुकी है। उनकी पुस्तकों के अनेक संस्करण और लाखों प्रतियाँ घर-घर में प्राप्त हैं। 'सत्य की खोज' उनका मौलिक उपन्यास है। आज के समय में युवा-वर्ग की अभिरुचि जीवन के घटनाक्रमों के माध्यम से उसमें घटती हुई तथाजात अध्यात्म के प्रयोग को देखने की होती है। डॉ० भारिल्ल ने अपने उपन्यास के पात्रों से उन्हीं बिन्दुओं को छूकर अध्यात्म की महत्ता प्रतिपादित की है। उनकी सशक्त कलम उस आवश्यकता को जिस खूबी से प्रतिपादित करती है, वह एक क्रान्ति है । जैनजगत में प्रथम संस्करण की दस हजार प्रतियाँ छपते ही बिक जाना और दूसरे संस्करण का प्रेस में जाना उसकी उपयोगिता को प्रतिपादित करता है ।

– (सेठ) राजेन्द्रकुमार जैन, एम. ए., एलएल. बी., विदिशा

• सन्मतिवाणी (मासिक) इन्दौर; अक्टूबर, १९७७

विद्वान् लेखक ने कथानक के ब्याज (बहाने) से इसमें रोचक शैली में अध्यात्म का समावेश कर 'कांचन-मणि संयोग' की उक्ति को चरितार्थ किया है। यथानाम तथा गुण के अनुसार इस 'सत्य की खोज' पुस्तिका द्वारा लेखक ने तत्त्व के मर्म को समझने का सराहनीय प्रयास तथा अभिनव प्रयोग किया है ।

• जिनवाणी (मासिक) जयपुर; नवम्बर, १९७७

डॉ० भारिल्ल आध्यात्मिक प्रवक्ता और दार्शनिक रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही, इस पुस्तक के द्वारा वे एक सफल कथाकार के रूप में भी सामने आये हैं। नायक विवेक और नायिका रूपमती के माध्यम से लेखक ने एक ओर वस्तुतत्त्व के सत्य स्वरूप का प्रतिपादन कर सम्यक् श्रद्धा का रूप निखारा है तो दूसरी ओर उपासना के क्षेत्र में आई विकृतियों व उनके कारणों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है। साथ ही अंध श्रद्धालु जनता को ठगने वाले ढ़ोंगी महात्माओं की खबर ली है। जीव-अजीव, अनेकान्त, भेद-विज्ञान जैसे दुरूह दार्शनिक विषयों को कथा के माध्यम से सुलझाने में लेखक को अच्छी सफलता मिली है। दार्शनिक सूक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। कथा के साथ उनका रहस्य खुलता चलता है और पाठक की औत्सुक्य वृत्ति बराबर बनी रहती है। **– डॉ० नरेन्द्र भानावत, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

• सन्मति सन्देश (मासिक) दिल्ली; फरवरी, १९७८

सत्य की खोज देव-शास्त्र-गुरु और धर्म की अंधश्रद्धा पर करारी चोट करती है। इस उपन्यासनुमा कहानी में सरलता से सिद्धान्तों के दर्शन भी हो सकेंगे। यदि इसका जीवन में उपयोग किया जाए तो यह एक शुगर कोटेड औषधि है, जो कहानी के आनन्द के साथ रोग को समूल नष्ट कर सकती है।

डॉ० भारिल्ल चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी हैं। उनकी वाणी और कलम में जादू का चमत्कार होता है, जो श्रोता और पाठक को तन्मयता में बाँध देता है । इसे प्रारम्भ करने के बाद पढ़े बिना छोड़ने को जी नहीं चाहता है। जैन समाज में यह प्रथम प्रयास है, जो स्तुल्य है। समाज इसका सादर स्वागत करेगा।

– पं० प्रकाशचन्द 'हितैषी'

• श्रमण (मासिक) वाराणसी; दिसम्बर, १९७७

आलोच्य कृति में लेखक ने अध्यात्म एवं वीतरागता के विषय में व्याप्त भ्रांतियों तथा धर्म के रूप में पलते-पुसते जड़ कर्मकाण्डों के निरसन का प्रयास किया है। उपन्यास के प्रमुख दो पात्र हैं – युवा पति व पत्नी। दोनों क्रमशः अध्यात्म एवं कर्मकाण्ड के प्रतिनिधि हैं। दोनों एक-दूसरे को सम्यक् पथ पर लाना चाहते हैं। पत्नी की एक ही समस्या है कि वह मातृत्व से वंचित है और सन्तान प्राप्ति के प्रयास में ही जीवन प्रवाह में कर्मकाण्ड के ढकोसलों के कारण समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। कर्मकाण्डियों की हरकतों का भण्डाफोड़ होता है और वह युवा दम्पति, एक ही अध्यात्म की शुद्ध विचारधारा के अनुयायी बन जाते हैं। **इस तरह इस उपन्यास में लेखक का मूल लक्ष्य समाज में वीतराग धर्म का वातावरण निर्माण करना है। रामायण में राम की भाँति अध्यात्म या आत्मतत्त्व ही इस कृति का प्राणतत्त्व है।** अपने निश्चित विचारों की अभिव्यक्ति के लिए लेखक ने जिस सुरुचिपूर्ण संवाद-शैली का अवलम्बन किया है, उससे पुस्तक पठनीय बन गई है।

• पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, प्रधान सम्पादक 'वीर'

'सत्य की खोज' पुस्तक बहुत अच्छी लगी। आपने मूढ़ताओं के खिलाफ कहानी के रूप में अच्छा प्रबल प्रहार किया है। सचमुच ही यह अपने ढंग की एक नई कृति है। **इसकी एक लाख प्रतियाँ छपनी चाहिए,** तभी समाज के धर्म के नाम पर कल्पित भ्रम दूर हो सकेंगे।

• डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर

'सत्य की खोज' शैली और भाषा की दृष्टि से अच्छी और सुबोध है। उद्देश्य और व्यापक प्रेषणीयता के विचार से पुस्तक महत्त्वपूर्ण है ।

• डॉ० प्रेमचन्द राँवका, प्राध्यापक, रा० महाविद्यालय, मनोहरपुर

यह कृति आदि से अन्त तक पाठक को जिज्ञासु बनाए रखती है। इसके कथानक में औत्सुक्य तत्त्व पूर्णतः विद्यमान है। भ्रमित सामान्यजनों के हित में मार्गदर्शन के रूप में यह कृति प्रत्येक श्रावक-श्राविका के लिए अपरिहार्य रूप से पठनीय है। इस कृति ने भटके, दिग्भ्रान्त युवक को सत्य की खोज को खोजने में पूर्णतः सहायता प्रदान की है। व्यवहार एवं निश्चय, उपादान एवं निमित्त के पहलुओं को वस्तुतत्त्व के तथ्य के उजागर करने में यह रचना सफल सिद्ध होगी। सामाजिक एवं धार्मिक स्थलों पर होने वाले व्यर्थ के विवादों के समाधान में जो मार्ग अपनाया गया है, वह स्तुत्य है। आध्यात्मिक एवं जैन दार्शनिक पक्ष को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट शैली में सामान्य पाठक के लिए हृदयग्राही बनाया गया है।

इस पुस्तक की सर्वाधिक विशेषता - उसमें प्रयुक्त सुभाषित पंक्तियाँ हैं, जो जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में मननीय, चिन्तनीय एवं अनुकरणीय हैं। मोटे अक्षरों में देकर उन्हें सहज ही, बिना पढ़े ही ग्राह्य बना दिया है। मैं प्रश्नपत्र में 'अपठित' अंशों के लिए इनका प्रयोग करूँगा। कुल मिलाकर यह कृति जैन समाज के सभी वर्गों के लिए ही नहीं, इतर समाज में भी परिव्याप्त अन्ध-श्रद्धाओं, कुरीतियों एवं विकृतियों के निराकरण में सहज ही सफल सिद्ध होगी।

*** श्री बिरधीलालजी सेठी, महामंत्री, दि० जैन महासमिति (राजस्थान)**

साधारण समाज में रूढ़ियों और धर्म के नाम पर फैले हुए अंध-विश्वासों को दूर करने के साथ ही धर्म के सम्बन्ध में विवेक जागृत करने की ओर इसके लिए आधुनिक शैली से लिखे हुए, हिंसा तथा प्रेम-प्रसंगों के बिना भी रोचक कथा साहित्य के सृजन की इस समय बड़ी आवश्यकता है। 'सत्य की खोज' इसीप्रकार की सुन्दर रचना है। छपाई आदि तो अच्छी है ही। यह पुस्तक घर-घर में रखने योग्य है, महिलाओं के लिए तो विशेष रूप से पठनीय है।

° सुप्रसिद्ध विदुषी ब्र० गजाबैन, बाहुबली-कुंभोज (महाराष्ट्र)

'सत्य की खोज' अत्युत्तम रचना निर्दोष एवं प्रभावी परिणामकारक है।

° विदुषीरत्न ब्र. कु. विद्युल्लता शहा, बी. ए., बी. टी., सोलापुर (महाराष्ट्र)

'सत्य की खोज' यह रोचक उपन्यास 'शर्करावगुंठित' गोली (शुगर-कोटेड टेबलेट) के समान अध्यात्मदृष्टि निशंक बनाने वाली है। मैंने जब से सन्मति संदेश में इसे पढ़ा, तभी से इसका अनुवाद मराठी भाषा में करके छपाने की इच्छा हुई, कृपया सम्मति भेजें।